M 1694

भारतीय साहित्य के निर्माता

पण्डितराज जगन्नाथ

लेखक
पी. श्रीरामचन्द्रुडु

साहित्य अकादेमी

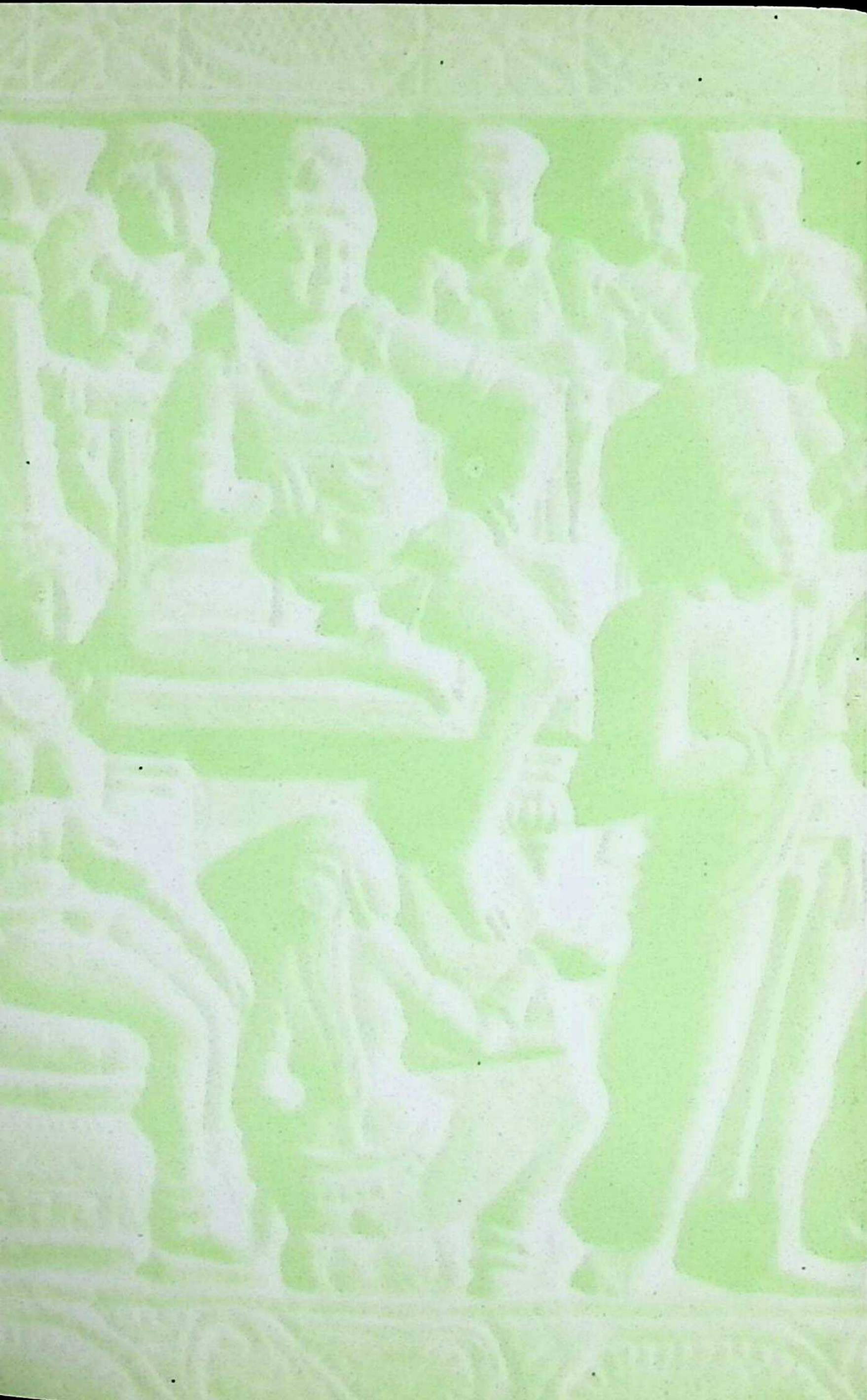

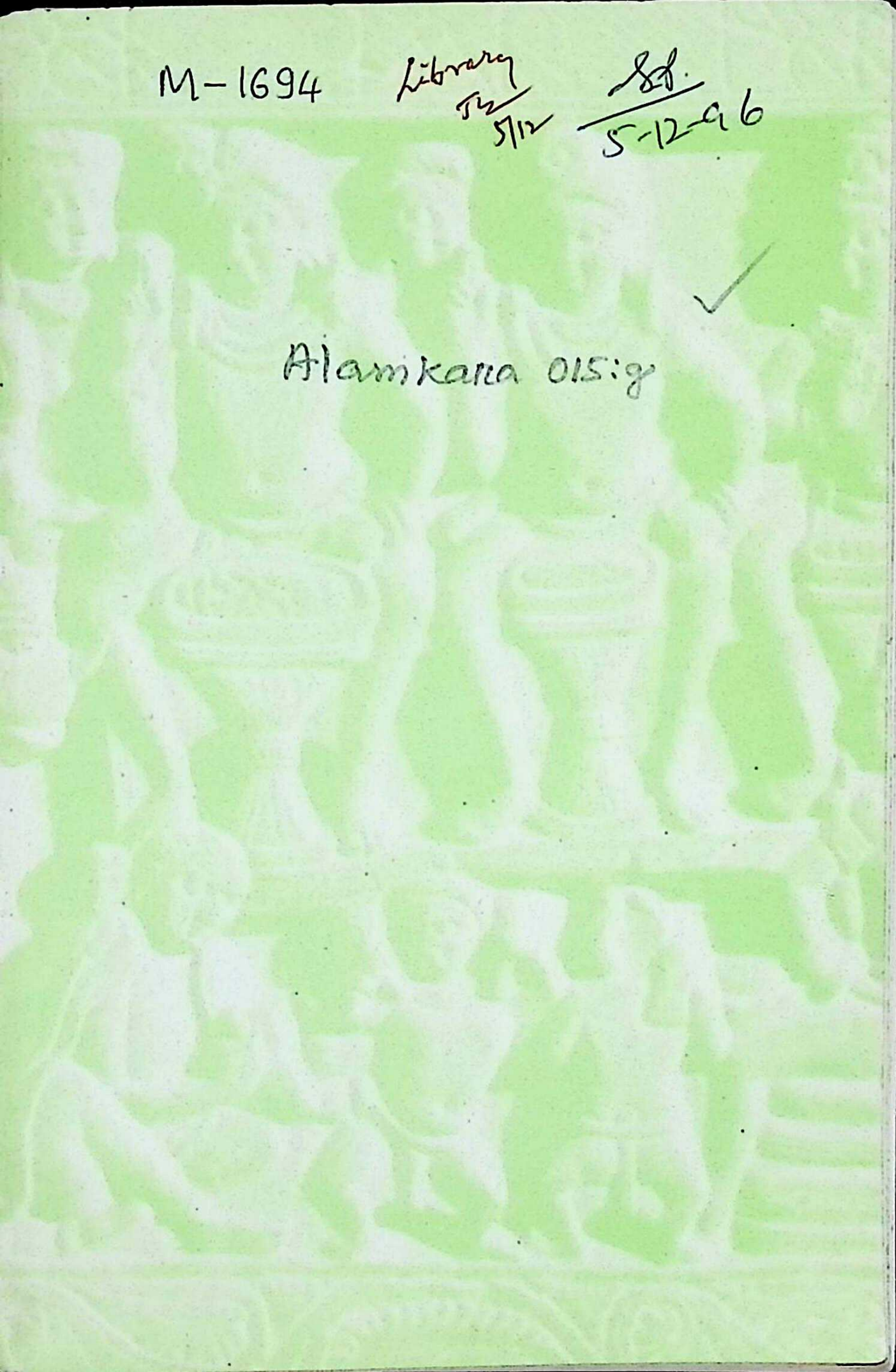

M-1694 Library 5/12 Sd. 5-12-96

Alamkara 015:g

Sahitya Sl

पण्डितराज जगन्नाथ

ग 1094

*

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता. भगवान बुद्ध की माँ--रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे है, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है । भारत में लेखन-कला का सभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुनकोण्डा : दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

पण्डितराज जगन्नाथ

लेखक

पी. श्रीरामचन्द्रुडु

अनुवादक

मिथिलेश चतुर्वेदी

with
the Compliments of Rashtriya
Sanskrit Sansthan - New Delhi'

साहित्य अकादेमी

Panditaraja Jagannatha : Hindi translation by Mithilash Chaturvedi of P. Shriramachandrudu's monograph in English. Sahitya Akademi, New Delhi (1992), Rs. 15.

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण : 1992

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए /44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग,
दादर, बम्बई 400 014
109, जे. सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

मूल्य : पन्द्रह रुपये

लेज़र टाइपसेटिंग : तारा एन्टरप्राईज़ेस, नयी दिल्ली 110 002
मुद्रक : एवन ऑफसेट प्रिन्टर्स, नयी दिल्ली 110 002

विषयसूची

एक	जीवन	7
दो	कृतित्व	21
तीन	जगन्नाथ के काव्यकला-संबन्धी विचार	27
चार	गंगालहरी	39
पाँच	अमृतलहरी	43
छः	करुणालहरी	44
सात	लक्ष्मीलहरी	46
आठ	सुधालहरी	48
नौ	भामिनीविलास	51
दस	आसफविलास	60
ग्यारह	प्राणाभरण या जगदाभरण	62
बारह	जगन्नाथ के काव्य में शास्त्रीय तत्त्व	64
तेरह	जगन्नाथ की रचनाओं का पूर्वापर क्रम	66
	उपसंहार	68
	परिशिष्ट 1 श्लोक-चयनिका	69
	परिशिष्ट 2 निर्दिष्ट श्लोकों का मूल पाठ	73

एक

जीवन

सर्जनात्मक प्रतिभा और आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि भगवती सरस्वती के दो ऐसे वरदान हैं जिनका समागम एक ही व्यक्ति में पाया जाना किसी भी भाषा के इतिहास में दुर्लभ है । अंग्रेज़ी में कोलरिज या एलियट इस समागम के उदाहरण हैं । संस्कृत में पाश्चात्य भाषाओं की अपेक्षा ऐसी विलक्षण प्रतिभाएँ अधिक सुलभ हैं क्योंकि यहां विद्वान् कहने योग्य कोई भी व्यक्ति, कवि न हो तो भी, पद्य रचना तो कर ही लेता है । किन्तु संस्कृत में भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जो काव्य-प्रतिभा और समीक्षात्मक नैपुण्य की समृद्धि में कोणसीमा के पंडितराज जगन्नाथ से बढ़ कर हो ।

समझा जाता है कि असाधारण साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न जगन्नाथ पण्डितराज वर्तमान आन्ध्रप्रदेश के पूर्वी गोदावरी जिले में कोणसीमा के त्रैलिंग (तेलुगु) ब्राह्मणों की वेगिनाडु शाखा में उत्पन्न हुए थे । उपद्रष्टा (याग-क्रियाओं के अधिष्ठाता) उनके कुल का सम्मानसूचक उपनाम था । वे पेरुभट्ट और लक्ष्मी के पुत्र थे । **रसगंगाधर** के प्रास्ताविक पद्य में पण्डितराज ने पेरुभट्ट को समस्त विद्याओं में पारंगत बताया है । पेरुभट्ट ने ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्त का, महेन्द्र से न्याय व वैशेषिक तर्कशास्त्र का, किन्हीं 'देव' से (जो नागेशभट्ट के अनुसार खण्डदेव मिश्र ही हैं) मीमांसा का और भट्टोजिदीक्षित के सहाध्यायी एवं शेषश्रीकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर से व्याकरण का अध्ययन किया । जगन्नाथ ने व्याकरण की शिक्षा शेषवीरेश्वर से पाई और अन्य सभी शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता से ही किया ।

परम्परा इस विषय में तो एकमत है कि वे त्रिलिंग देश के ही मूल निवासी थे किन्तु उनके जन्म के ठीक-ठीक स्थान पर मतभेद है । समझा जाता है कि वे आन्ध्रप्रदेश के पूर्वी गोदावरी ज़िले के अमलापुरम् तालुके में मुनिखण्डाग्रहार के निवासी थे जिसे अब मुंगण्डा कहते हैं ।

एक अन्य परम्परा के अनुसार जगन्नाथ आन्ध्रप्रदेश के गुन्टूर ज़िले के तेनाली तालुके में डावुलुरु ग्राम के निकट उत्पन्न हुए थे । बताया जाता है कि जगन्नाथ के छोटे भाई रामचन्द्र भट्ट ने सन् 1660 में गोलकुण्डा के अजहसन कुतुब शाह से, जिसका शासन 1658 से 1687 तक था, डावुलुरु गाँव भेंट में पाया था । डावुलुरु के निकट उपद्रष्टा गोत्र के बहुत से लोग रहते हैं और उनका कहना है कि गोदावरी ज़िले में भी इसी उपनाम वाले जो व्यक्ति हैं वे इसी गाँव से निकले हुए प्रवासी हैं । इन परम्परागत विवरणों की जड़ में क्षेत्रीय अभिरुचियाँ ही हैं और इनके अलावा जगन्नाथ का जन्म-स्थल निश्चित करने वाले कोई अकाट्य प्रमाण नहीं हैं । यह भी संभव है कि जगन्नाथ कभी तेलगु प्रदेश में रहे ही न हों, उनके पिता या पितामह वाराणसी जा कर बस चुके हों और वहीं जगन्नाथ

का जन्म हुआ हो ।

पण्डितराज उस किस्म के व्यक्ति हैं जिनके चारों ओर जनश्रुति का ताना-बाना बन जाता है । इनमें अधिकांश जनश्रुतियाँ अकबर और शाहजहाँ जैसी शाही हस्तियों, या आसफ़ ख़ान जैसे प्रभावशाली सत्ताधारियों, अथवा जयपुर के जगत्तसिंह जैसे सामन्तों के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ती हैं । एक कहानी के अनुसार अकबर के दरबार में अपने मुक़दमे का फ़ैसला कराने आए दो व्यक्तियों के फ़ारसी में हुए वाग्युद्ध को उन्होंने जिस प्रकार अक्षर-प्रत्यक्षर जस का तस दुहरा दिया था, उनकी स्मृति की उस ध्वन्यात्मक अनुरूपता से अकबर चमत्कृत हो गया था । दूसरी कथा के अनुसार, बादशाह के साथ चौपड़ खेलते समय सोने की सुराही में पानी लाती हुई उसकी बेटी को देख कर जगन्नाथ उस पर आसक्त हो गये थे और उसके विवाह की अनुमति देने से पूर्व शहंशाह ने ब्राह्मण के सामने अपने साथ भोजन करने की शर्त रखी थी । दोनों कथाएँ कालानुक्रम के साक्ष्य पर ही अप्रामाणिक ठहरती हैं क्योंकि अकबर और जगन्नाथ का तिथिक्रम मेल ही नहीं खाता ।

एक और किंवदन्ती उन्हें जयपुर ले जाती है जहाँ उन्होंने थोड़े ही समय में समस्त इस्लामी विद्या पढ़कर दिल्ली दरबार के एक मुस्लिम विद्वान् को बहस में पराजित किया । स्वयं क़ाज़ी के मुँह से यह सुनकर शाहजहाँ ने उन्हें अपने दरबार में आमन्त्रित किया और पण्डितराज की उपाधि से सम्मानित किया । वहीं वे एक मुस्लिम लड़की के प्रेम में पड़ गये और उससे विवाह कर लिया । इस प्रकार यौवन में राजकीय अनुग्रह का सुख भोगने के बाद जगन्नाथ वृद्धावस्था में वाराणसी चले गये । वहाँ अप्पयदीक्षित जैसे विद्वानों ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया । बहिष्कृत, एकाकी और अनुताप से पीड़ित जगन्नाथ बनारस के घाटों की सीढ़ियों पर बैठ गये और उसी भावावेग में उन्होंने सम्पूर्ण **गंगालहरी** की रचना की । कहते हैं कि पद्यों के उच्चारण के साथ ही गंगा बढ़ने लगी और उसने एक-एक सीढ़ी चढ़ते हुए जगन्नाथ के पास पहुँच कर रूढ़िवादी पंडितों को भयभीत और विस्मित करते हुए उन्हें अपनी भुजाओं में समेट लिया ।

एक अन्य कथा के अनुसार अपनी मुस्लिम प्रिया की मृत्यु हो जाने पर जगन्नाथ वाराणसी चले गये । किन्तु वहाँ एक ओर बिछोह की कसक और दूसरी ओर पंडितों द्वारा किये गये अपमान से संतप्त होकर उन्होंने **गंगालहरी** का उच्चारण करते हुए, वर्षा में उफनती हुई गंगा की धारा में छलाँग लगा कर अपना जीवन समाप्त कर लिया ।

एक और कथा इस प्रकार है कि वृद्धावस्था में जगन्नाथ गंगा के किनारे प्रभात की शीतल वायु में अपनी मुस्लिम प्रिया के साथ सुखद निद्रा में सोये हुए थे । खाट से लटकती उनकी श्वेत शिखा दिखाई पड़ रही थी । अप्पयदीक्षित जब प्रातःस्नान के लिए वहाँ आये तो उन्हें इस अवस्था में देखकर एक श्लोकार्ध द्वारा कह उठे – "जीवन के अवसान में जब मृत्यु बढ़ी आ रही है, तुम निःशंक कैसे सो रहे हो ?" किन्तु जब उन्होंने तीखी ज़बान वाले जगन्नाथ को पहचाना तो तुरंत यह कहते हुए अपना अभियोग वापस ले लिया : "अथवा सुख से सोओ क्योंकि गंगा तुम्हारे निकट जागती है ।" किन्तु

रसगंगाधर (पृष्ठ 564) में उद्धृत यह श्लोक अप्पयदीक्षित का नहीं अपितु जगन्नाथ का है; इसलिये यह कथा निराधार है ।

जनश्रुति उनका संबन्ध जयपुर के महाराज जयसिंह से भी जोड़ती है जो दिल्ली दरबार के मुल्लाओं की दो अपमानजनक दलीलों का उपयुक्त उत्तर दे सकने में समर्थ किसी हिन्दू विद्वान् की खोज में थे। इन मुल्लाओं का कहना था कि राजपूत वास्तविक क्षत्रिय नहीं हो सकते क्योंकि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सभी क्षत्रियों का परशुराम द्वारा इक्कीस बार उन्मूलन किया जा चुका है । उनका दूसरा दावा था कि अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीनतर है । जयसिंह ने पहचान लिया कि जगन्नाथ ऐसे तार्किक हैं जो इन आक्षेपों का मुँहतोड़ जवाब दे सकते हैं । दिल्ली के बादशाह के सामने जगन्नाथ ने राजपूतों की क्षत्रिय-परम्परा यह कह कर सिद्ध की कि क्योंकि परशुराम को एक से अधिक बार क्षत्रियों का उन्मूलन करने की आवश्यकता पड़ी, इसलिए यह मानना होगा कि हर बार, और इक्कीसवीं बार भी, कुछ क्षत्रिय बचे रहे । राजपूत इन्हीं क्षत्रियों के वंशज हैं । उन्होंने युक्तियों से यह भी भली-भाँति सिद्ध कर दिया कि वेदों की भाषा (अंर्थात संस्कृत) मानव मस्तिष्क की उपज नहीं है और इसलिए नित्य होने के कारण अरबी से प्राचीनतर है । बादशाह इस प्रत्युत्पन्नमति युवा विद्वान् से बहुत प्रभावित हुए और शीघ्र ही जगन्नाथ को मुग़ल दरबार में स्थान मिल गया ।

तीन और भी किंवदन्तियाँ हैं जो जगन्नाथ के अपने ही श्लोकों के आधार पर बनी हुई मालूम होती हैं ।

दिल्ली में मुग़ल सम्राट् के आश्रय का उपभोग करते समय जगन्नाथ को एक अन्य राजा का निमन्त्रण प्राप्त हुआ । इस निमन्त्रण के उत्तर में उन्होंने निम्नलिखित पद्य भेजा –

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः ।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात् ।।

"या तो दिल्ली के स्वामी अथवा जगत् के स्वामी ही मेरे मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ हैं । अन्य राजा जो कुछ देते हैं उससे तो केवल साग-सब्जियों की ही पूर्ति हो सकती है ।"

एक अन्य कथा के अनुसार जगन्नाथ ने तपस्या द्वारा देवी को प्रसन्न कर यह वर प्राप्त किया था – "वत्स, कुरुदेश-पर्यन्त भ्रमण करो, तर्क करने में संकोच न करो, समस्त शास्त्रों की व्याख्या करो; यह मेरा वरदान है ।"

एक और कहानी इस प्रकार है कि समस्त शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त कर जगन्नाथ मुग़ल दरबार गये और वहाँ अपनी विपन्नावस्था का वर्णन इस पद्य के माध्यम से किया जिसके कारण उन्हें राजकीय अनुग्रह प्राप्त हुआ –

" दिन मानों शीत से पीड़ित हो कर सिकुड़ते चले जाते हैं , रात्रि अम्बर (आकाश; साथ ही, वस्त्र भी) को शीघ्र नहीं छोड़ती, सूर्य भी आग्नेयी दिशा (दक्षिण-पूर्व) में चला गया.

आप भी युवतियों की कामाग्नि से गर्म हृदयों में निवास करते हैं । हमारे पास तो (गर्मी पाने के लिए) न वस्त्र हैं, न युवतियाँ, हम कहाँ जाएँ ।" (**भामिनीविलास** पर अच्युतराय की टीका, पृष्ठ 68)

ऐसी अनेक कथाओं का जाल जगन्नाथ के आस-पास दिखाई पड़ता है जो ध्यानपूर्वक देखने पर किसी अति सक्रिय किन्तु संवेदनशील लोक-कल्पना की उपज सिद्ध होती हैं ।

जगन्नाथ के अनेक शिष्य हुए । इनमें आगरा के माथुर चतुर्वेदी वंश के श्री कुलपति मिश्र ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे और जयपुर-नरेश श्री रामसिंह जी (प्रथम) के दरबार में थे । अपनी एक कृति **संग्रामसार** में उन्होंने अपने गुरु (जगन्नाथ) का नाम बड़े आदर से लिया है । अन्य बातों के अलावा उनके शब्द दो महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर प्रकाश डालते हैं । यहाँ जगन्नाथ का उल्लेख त्रिशूलधर (जो संभवतः त्रिशूली और त्रैलिंग का पर्याय है) के रूप में हुआ है और इस प्रकार कुछ विद्वानों का यह मत भ्रान्तिमूलक सिद्ध हो जाता है कि त्रिशूली जगन्नाथ पण्डितराज जगन्नाथ से भिन्न थे । दूसरे, यहाँ जगन्नाथ को वेलनाडु शाखा का बतलाया है जबकि उन्हें वेगिनाडु शाखा में उत्पन्न माना जाता है । इसके मूल में शायद एक शाखान्तरीय विवाह के कारण हुई भ्रान्ति है, क्योंकि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि जगन्नाथ की पत्नी कामेश्वरी एक ऐसे परिवार से थीं जो वेलनाडु शाखा के वल्लभाचार्य के साथ उत्तर भारत में आकर बस गये अनेक परिवारों में से एक था ।

जगन्नाथ के एक और शिष्य थे नारायणभट्ट, जो उन्हीं की शाखा के थे । नारायणभट्ट के भतीजे हरिहरभट्ट ने अपनी कृति **कुलप्रबन्ध** में लिखा है कि नारायणभट्ट पण्डितराज जगन्नाथ के शिष्य थे । इस प्रकार जगन्नाथ न केवल असाधारण विद्वान् थे अपितु एक श्रद्धेय अध्यापक भी थे जिन्होंने अनेक गुणवान् शिष्य प्रस्तुत किये ।

जगन्नाथ एक प्रसिद्ध पद्य में बतलाते हैं कि उनकी युवावस्था मुग़ल सम्राट् के दरबार में बीती –

"समस्त शास्त्रों पर मैंने अधिकार प्राप्त किया, नित्य विधियों का सम्पूर्ण रूप में अनुष्ठान किया, दिल्लीश्वर के हाथ के नीचे अपना चढ़ता यौवन व्यतीत किया; अब समस्त वासनाओं से मुक्त हो कर मथुरा[1] में भगवान् कृष्ण की सेवा करता हूँ । पण्डितराज ने जो कुछ किया सर्वश्रेष्ठ ही किया ।" (**शान्तविलास, 32**)

अधिकतर यह माना जाता है कि इस पद्य में उल्लिखित दिल्ली-सम्राट् शाहजहाँ है जिसने सन् 1628 से 1658 तक राज्य किया । कुछ विद्वान् मानते हैं कि जगन्नाथ ने इससे भी पूर्व, अर्थात् जहाँगीर के शासनकाल में मुग़ल दरबार में प्रवेश पाया । ऐसा मानने का आधार एक श्लोक है जिसमें जहाँगीर का वर्णन किया गया है । यह मान्यता भी सर्वथा संभव प्रतीत होती है ।

तेलुगु कृति **पण्डितरायजीवितमु** ने जगन्नाथ के जन्म का संभावित समय सन् 1600

---

1 एक अन्य पाठ के अनुसार– "वाराणसी में परमतत्त्व का चिन्तन करता हूँ ।"

ई० माना है और मुग़ल दरबार में उनके प्रवेश के संबन्ध में एक रोचक वृत्तान्त प्रस्तुत किया है । 1625 ई० में शिक्षा पूर्ण करने के बाद जगन्नाथ राज्याश्रय पाने की इच्छा से अपने स्थान से चल पड़े । सन् 1627 में जब वे दिल्ली पहुँचे तो जहाँगीर सिंहासन पर था । किन्तु सन् 1627 के अन्त में अस्वस्थता के कारण जहाँगीर कश्मीर चला गया जबकि शाहज़ादा शाहजहाँ उस समय दक्षिण में था । बादशाह और शाहज़ादे की अनुपस्थिति में सिंहासन शाहजहाँ और नूरजहाँ के समर्थकों के षड्यन्त्रों का केन्द्र बन गया । मुग़ल दरबार का यह वातावरण जगन्नाथ को रास नहीं आया और उन्होंने उदयपुर के रामकर्ण के पुत्र जगत्सिंह के यहाँ आश्रय लेना बेहतर समझा जो 1628 में सिंहासनारूढ़ हुआ । जगत्सिंह पर रचित प्रशस्तिकाव्य **जगदाभरण** के अन्तिम पद्य और पुष्पिका से भी यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि जगन्नाथ जगत्सिंह के दरबार में रहे थे ।

किन्तु **जगदाभरण** के अन्तिम पद्य में 'पण्डितराज' पदवी का उल्लेख कठिनाई उपस्थित करता है । **आसफविलास** की पुष्पिका में जगन्नाथ कहते हैं कि 'पण्डितराज' की पदवी उन्हें शाहजहाँ से प्राप्त हुई । **जगदाभरण** का पूर्वोल्लिखित पद्य, जिसकी रचना अवश्य ही कवि ने शाहजहाँ का राज्याश्रय पाने से पूर्व की होगी, 'पण्ड़ितराज' पदवी का उल्लेख करता है । इसकी व्याख्या इस प्रकार से हो सकती है –

शाहजहाँ ज़ब दक्षिण में था तो उसे पिता की मृत्यु का समाचार मिला और दिल्ली लौटते समय वह अपने घनिष्ट मित्र उदयपुर के महाराणा जगत्सिंह के यहाँ ठहरा जिससे सिंहासन के लिए होने वाले आगामी संघर्ष में उसे महाराणा की सहायता का आश्वासन मिल सके । टॉड के अनुसार* जगत्सिंह ने अपनी निष्ठा प्रमाणित करने के लिए उदयपुर में ही शाहजहाँ को मुग़ल सम्राट् का ताज पहनाया । जैसी कि राजाओं में प्रथा थी, शाहजहाँ ने इस अवसर पर जगन्नाथ को (जो पहले ही जगत्सिंह के दरबार में थे) पण्डितराज की पदवी प्रदान की और उन्हें अपना राजकवि नियुक्त किया ।

यदि यह पदवी जगन्नाथ को इस अवसर पर न भी प्रदान की गई हो, तब भी, चूँकि जगत्सिंह और शाहजहाँ घनिष्ट मित्र थे, यह संभव है कि मुग़ल दरबार में प्रतिष्ठित होने

"उस (रामकरण) के बाद उसका बेटा जगत्सिंह संवत् 1684 (1628 ई०) में सिंहासन पर बैठा । उसके सिंहासन पर बैठने के बाद शीघ्र ही सम्राट जहाँगीर की मृत्यु हो गई; खुर्रम उस समय निर्वासन में था । इस घटना से राजसिंहासन राणा के कुल के मित्र को मिला और उसे यह खबर राणा ने ही दी । उसने बादशाह के परिजन के रूप में अपने भाई को राजपूतों की एक सेना के साथ सूरत भेजा । खुर्रम सूरत से सीधे उदयपुर आया और वहीं राणा के बादल महल में साम्राज्य के सूबेदारों और करद राजाओं ने उसे 'शाहजहाँ' के नाम से पुकार कर उसका अभिवादन किया । विदा लेते समय नए बादशाह ने जीते हुए पाँच इलाके फिर से राणा को वापस दे दिये और एक अनमोल माणिक भी उपहार में दिया; साथ ही उसे चितौड़ की क़िलेबन्दी के पुनर्निर्माण की भी अनुमति दी ।"
जेम्स टॉड, एनल्स एंड एंटिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान, (कलकत्ता संस्करण, 1894) पृ. 384.

के बाद भी जगन्नाथ जगत्सिंह के दरबार में प्रायः आते-जाते रहे हों और ऐसे ही किसी अवसर पर उन्होंने **जगदाभरण** की रचना की हो । इस वृत्तान्त के प्रकाश में समझना चाहिए कि पण्डितराज के पृष्ठ 9 पर उद्धृत प्रसिद्ध पद्य का 'जगदीश्वर' शब्द जगत्सिंह के लिए प्रयुक्त हुआ है क्योंकि अन्यै : नृपालै : (अन्य राजाओं द्वारा) कहने से यही सूचित होता है कि 'दिल्लीश्वर' और 'जगदीश्वर' शब्द एक ही कोटि के 'नृपालों' के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

पण्डितरायजीवितमु के अनुसार जगन्नाथ मेवाड़ आने से पूर्व असम के प्राणनारायण के दरबार में गये थे और **जगदाभरण** से भी पहले उन्होंने प्राणनारायण की प्रशस्ति में **प्राणाभरण** की रचना की थी । किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि औरंगज़ेब द्वारा शाहजहाँ को बन्दी बना लेने के बाद जगन्नाथ ने दिल्ली छोड़ दी थी और असम के प्राणनारायण के आश्रय में रहे थे । प्राणनारायण का 1633 से 1666 के बीच शासन कूचबिहार के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है ।

मुग़ल दरबार में जगन्नाथ शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह के कृपापात्र रहे[1] और आसफ़ ख़ाँ के भी जो "नूरजहाँ का भाई और शाहजहाँ का श्वसुर था और जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल के दौरान साम्राज्य की सभाओं में जिसकी ऊँची हैसियत थी," और " जो विद्वान् और सौन्दर्यप्रेमी था ।" मुग़ल दरबार में जगन्नाथ का प्रवेश आसफ़ ख़ाँ के प्रभाव से ही जहाँगीर के शासन के आखिरी दौर में हुआ होगा । अपने इस आश्रयदाता की प्रशंसा में उन्होंने आसफविलास नाम की एक छोटी-सी आख्यायिका की रचना की । सन् 1641 में आसफ़ ख़ाँ की मृत्यु को जगन्नाथ ने बड़ी गहराई से महसूस किया । उन्होंने इस घटना को अत्यंत करुण शब्दों में दर्ज़ किया है (**रसगंगाधर, र.ग.,** विशेषालंकार के अन्तर्गत) ।

आसफ़ ख़ाँ की मृत्यु के बाद भी जगन्नाथ लगभग 1658 ई० तक मुग़ल दरबार में रहे होंगे और **रसगंगाधर** सहित उनकी लगभग सभी कृतियाँ दिल्ली-निवास के दौरान ही रची गईं । पी. वी. काणे बतलाते हैं कि "**चित्रमीमांसाखण्डन** की एक पाण्डुलिपि पर संवत् 1709 (1652-53 ई०) का समय अंकित है, इसलिए **रसगंगाधर** और **चित्रमीमांसाखण्डन** दोनों की रचना 1650 ई० से पूर्व और 1641 ई० के पश्चात् हुई और निश्चय ही वे परिपक्व मस्तिष्क की रचनाएँ हैं । अतः जगन्नाथ की साहित्यिक गतिविधि 1620 से 1665 ई० के बीच रही है ।"

प्रायः ऐसा माना जाता है कि जगन्नाथ का **अप्पय दीक्षित** से व्यक्तिगत विद्वेष था

---

1. विक्रमाजित हसरत के अनुसार दाराशिकोह ने एक बार पण्डितराज की संस्कृत कविता से अत्यधिक प्रसन्न होकर उन्हें मुँहमाँगी वस्तु देने का वायदा किया था ।
   - दाराशिकोह : लाइफ एंड वर्क्स, पृ. 212.

और **अप्पय दीक्षित** के सम्बन्ध में उनकी आलोचना इसी से प्रभावित है । कुछ विद्वान् 1520-93 ई० को अप्पय दीक्षित का प्रामाणिक काल मानते हैं (न कि 1553-1626 ई० को) और इसलिए उनका कहना है कि जगन्नाथ और अप्पय दीक्षित की कभी भेंट ही नहीं हुई । किन्तु जगन्नाथ द्वारा अप्पय दीक्षित की कटु आलोचना को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस उग्र विद्वेष के कुछ निजी कारण अवश्य रहे होंगे । इसलिए अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित जगन्नाथ के ज्येष्ठ समकालीन रहे होंगे ।

कुम्भकोणम् से प्रकाशित **सिद्धान्तलेशसंग्रह** की प्रस्तावना में तीन पद्य उद्धृत हैं जिनमें पहले पद्य का तात्पर्य इस प्रकार है :

"गर्वीले द्रविड (अप्पय दीक्षित) के उकसाने पर गुरुद्रोही भट्टोजि ने उस (जगन्नाथ) को भरी सभा में म्लेच्छ कहा, और उस धीर (जगन्नाथ) ने भी अप्पय आदि सभी लोगों के देखते-देखते उस (भट्टोजि) की मनोरमा के कुचों का मर्दन कर इस गाली को सत्य सिद्ध कर दिया ।"

दूसरा पद्य **शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन** से उद्धृत है जो जगन्नाथ द्वारा रचित माना जाता है; इसका तात्पर्य भी वही है ।

तीसरे पद्य के रचयिता बालकवि कहे जाते हैं जिन्हें नीलकण्ठ दीक्षित के साक्ष्य के आधार पर अप्पय दीक्षित का समकालीन माना जाता है :

" जिन्होंने बहत्तरवें वर्ष के पूर्वार्ध में विश्वजित् याग करने से पूर्व भट्टोजि दीक्षित आदि सभी विद्वानों को पराजित किया, जगन्नाथ का भी उद्धार किया। बहत्तरवें वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् याग संपन्न किया और सभी महान् जनों के देखते-देखते वे (अप्पय दीक्षित) चिदम्बरम् में महान् ज्योति के रूप में परिणत हो गये ।"

इस पद्य से व्यक्त होता है कि अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित और जगन्नाथ समकालीन थे और दोनों दीक्षित कम से कम उस समय तक जीवित थे जब जगन्नाथ मुग़ल बादशाह के यहाँ राज्याश्रय का भोग कर रहे थे ।

फिर भी, पण्डितराज की समकालीनता के इस दावे को इन तथ्यों के आधार पर चुनौती दी जा सकती है । अप्पय दीक्षित के अनुज के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित बतलाते हैं कि उन्होंने 4738 वें कलिवर्ष (1638 ई०) में **नीलकण्ठविजय** नामक चम्पू की रचना की । इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि जगन्नाथ के समकालीन अप्पय दीक्षित नहीं, अपितु नीलकण्ठ दीक्षित थे । एक परम्परा के अनुसार नीलकण्ठ दीक्षित ने तीस वर्ष की आयु में **नीलकण्ठविजय** की रचना की । बारह वर्ष की आयु में उन्होंने अप्पय दीक्षित से आशीर्वाद प्राप्त किया जबकि अप्पय दीक्षित सत्तर वर्ष के थे । इस परम्परा के अनुसार अप्पय दीक्षित का समय 1550-1622 अर्थात् शाहजहाँ के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व है । किन्तु इस परम्परा पर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि अपनी कृति **त्यागराजस्तव** में नीलकण्ठ

लिखते हैं कि अप्पय दीक्षित ने "अपने अनुज के पौत्र पर अनुग्रह कर उसे अपने जैसा महिमाशाली बना दिया ।" यदि यह अनुग्रह केवल आशीर्वाद के अर्थ में न समझा जाए तो माना जा सकता है कि नीलकण्ठ दीक्षित ने अप्पय दीक्षित के पास विद्याध्ययन किया था । और फिर, नीलकण्ठ दीक्षित **नीलकण्ठविजय** में अप्पय दीक्षित की चर्चा करते समय वर्तमान काल का प्रयोग करते हैं, जिससे मालूम होता है कि जब नीलकण्ठ तीस वर्ष के थे तो अप्पय दीक्षित जीवित थे । इसलिए अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित जगन्नाथ के समकालीन कहे जा सकते हैं यद्यपि आयु में ये दोनों जगन्नाथ से बड़े थे । उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् होने के नाते सामाजिक प्रश्नों पर इनका मत निर्णायक रहा होगा और मुग़ल दरबार में रहने तथा एक मुस्लिम सुन्दरी के साथ कथित अवैध सम्बन्ध रखने के कारण जगन्नाथ को जातिच्युत करने में इन दोनों की भी भूमिका रही होगी, और इसी ने जगन्नाथ को साहित्य के क्षेत्र में उन पर कटुतापूर्ण आक्रमण के लिए प्रेरित किया होगा ।

अनेक विद्वानों का मत है कि मुस्लिम सुन्दरी लवंगी के साथ जगन्नाथ का सम्बन्ध बतानेवाली कथा उनके समय के ईर्ष्यालु और कट्टर पंडितों द्वारा उन पर थोपा हुआ एक झूठा आरोप है । किन्तु यह मान्यता यह स्पष्ट नहीं कर पाती कि मुस्लिम संरक्षण पाने वाले अनेक विद्वानों में से जगन्नाथ ही इस मिथ्या कलंक के पात्र क्यों बनाये गये । साथ ही यह भी प्रायः असंभाव्य प्रतीत होता है कि एक अविच्छिन्न परम्परा के पीछे बिल्कुल ही तथ्यात्मक आधार न हो । **भामिनीविलास** के टीकाकार अच्युतराय (उन्नीसवीं शताब्दी) लवंगी प्रसंग का उल्लेख करते हुए एक अतिवादी दृष्टिकोण रखते हैं कि जगन्नाथ की कोई वैध रूप से परिणीता पत्नी थी ही नहीं । लवंगी और उसके प्रति हमारे कवि की उत्कट अभिलाषा का वर्णन करनेवाले प्रसिद्ध श्लोकों में जगन्नाथ की शैली की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है । जगन्नाथ द्वारा उन्हें किसी ग्रन्थ में शामिल न किये जाने से उन्हें जगन्नाथकृत न मानने की बात पुष्ट नहीं होती । जैसा कि एक भिन्न प्रसंग में वे स्वयं कहते हैं कोई भी व्यक्ति, कितना ही साहसी हो, अपने दुर्बल क्षणों की मूर्खताओं को स्वयं प्रकट करने का साहस नहीं कर सकता ।

मद्रास की ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी में सुरक्षित **विभागरत्नमाला** की एक पाण्डुलिपि में चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् कवि कोणगिरिनाथ की कथा मिलती है जिसने दिल्ली के सुल्तान की बेटी लवंगी के माध्यम से सुल्तान से सम्मान प्राप्त किया । इस कहानी के आधार पर कुछ विद्वान् मानते हैं कि लवंगी प्रसंग का सम्बन्ध वास्तव में कोणगिरिनाथ से है जिसे दो शताब्दी पश्चात् होनेवाले जगन्नाथ पर आरोपित कर दिया गया । किन्तु हमारे विचार से, ऊपर उल्लिखित ग्रन्थ के लेखक ने, जो कोणगिरिनाथ का वंशज था और जिसने लवंगी के साथ जगन्नाथ के सम्बन्धों के विषय में सुना था, जान बूझकर लवंगी

का वर्णन अपने पूर्वज के पक्ष में किया है जिससे उसे तत्कालीन दिल्ली सुल्तान का बड़ा भारी कृपापात्र सिद्ध किया जा सके । स्वयं इस कथा के अनुसार दक्षिण का कोणगिरिनाथ दिल्ली में कुछ ही समय रहा था और यह संभव प्रतीत नहीं होता कि वह एक मुस्लिम शहज़ादी का प्रीतिभाजन बन गया हो । यह एक सुविदित तथ्य है कि हिन्दुओं के प्रति पहले के मुस्लिम शासकों का रवैया मुग़ल बादशाहों जितना उदार नहीं था और जगन्नाथ के मामले में भी, लवंगी शायद शाही ख़ानदान की कन्या नहीं रही होगी । संभव है कि वह किसी सामन्त या दरबारी की पुत्री हो । जगन्नाथ का भी, जिन्होंने मुग़ल दरबार में अपनी तरुणाई के दिन व्यतीत किये, उससे प्रेम-सम्बन्ध तो रहा होगा किन्तु उन दोनों का विवाह कभी नहीं हुआ । इसलिए, जैसा कि डा. आर्येन्द्र शर्मा का मत है, "लवंगी वाले सुप्रसिद्ध श्लोकों (**पण्डितराजकाव्यसंग्रह=पं.का.सं.**, 190, 582, 588) को प्रामाणिक मानने पर (और ऐसा न मानने के कोई कारण नहीं दीखते) मुग़ल दरबार की एक मुस्लिम सुन्दरी के साथ जगन्नाथ के प्रेम की कहानी भी सत्य मानी जा सकती है ।"

पण्डितराज के कुछ समकालीनों के लिखित अनुभव लवंगी प्रसंग को विश्वसनीयता प्रदान करते हैं । सिद्धिचन्द्रगणि पण्डितराज के समकालीन रहे हैं । उन्हें भी मुग़ल बादशाहों, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था । उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था । जहाँगीर के विचार में स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाले पुरुष में यह एक विकृति थी और जब शाही सलाह के बाद भी सिद्धिचन्द्रगणि सुधरने के लिए तैयार नहीं हुए तो जहाँगीर ने जंगल को ही ऐसे लोगों (ब्रह्मचारियों) के लिए उपयुक्त स्थान बतलाते हुए उन्हें जंगल में निर्वासित कर दिया । इस निर्णय में नूरजहाँ की भी सहमति थी । यह घटना, जिसका वर्णन स्वयं इससे प्रभावित व्यक्ति ने किया है, मुग़ल बादशाहों के आम रवैये को बहुत अच्छी तरह समझा देती है । इस घटना का उल्लेख **काव्यप्रकाशखण्डन** की प्रस्तावना में किया गया है और इस पर प्रस्तावना-लेखक की टिप्पणी उपयुक्त ही है – "इस घटना की तुलना जगन्नाथ के जीवन में यवनी के प्रसंग से की जा सकती है ।" पाद टिप्पणी में वे फिर कहते हैं– "कुछ विद्वान् इस प्रसंग को इतिहास-सम्मत नहीं मानते । फिर भी संपूर्ण प्रश्न को सिद्धिचन्द्रगणि के जीवन की इस घटना के प्रकाश में भली भाँति देखा जाना चाहिए ।"

पण्डितरायजीवितमु से जगन्नाथ की महत्ता के एक और महत्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश पड़ता है जिसे विद्वानों द्वारा प्रायः भुला दिया गया है । जगन्नाथ न केवल एक महान् कवि-आलोचक थे अपितु असाधारण संगीतज्ञ भी थे । सौरीन्द्रमोहन ठाकुर अपनी पुस्तक **यूनिवर्सल हिस्ट्री ऑफ म्यूज़िक** में लिखते हैं – "शाहजहाँ के काल (1628-58) में निम्नलिखित संगीतज्ञ हुए हैं, जगन्नाथ, दिरंग ख़ाँ और लाल ख़ाँ (गानसमुद्र) । लाल ख़ाँ तानसेन के पुत्र बिलास ख़ाँ का जामाता था । जगन्नाथ और दिरंग ख़ाँ को चाँदी में तोला

गया था और प्रत्येक को पैंतालीस हज़ार रुपये दिये गये । औरंगज़ेब ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के बाद दरबारी गायकों और संगीतज्ञों को निकाल दिया ।"

शॉर्ट हिस्टॉरिकल सर्वे ऑफ़ द म्यूज़िक ऑफ़ अपर इंडिया नामक पुस्तक से उद्धृत निम्नलिखित अंश से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि ये जगन्नाथ, पण्डितराज जगन्नाथ से भिन्न नहीं थे —" **आईन-ए-अकबरी** के अनुसार शाहजहाँ के दरबार में प्रमुख संगीतज्ञ ये थे — जगन्नाथ, जिन्होंने बादशाह से पण्डितराज की पदवी प्राप्त की, दिरंग ख़ाँ, और लाल ख़ाँ जिन्होंने 'गानसमुद्र' की पदवी प्राप्त की । लाल खाँ तानसेन के दामाद थे । बताया गया है कि जगन्नाथ और दिरंग ख़ाँ दोनों को चाँदी में तोला गया और प्रत्येक को पैंतालीस सौ रुपये प्रदान किये गये ।"

"जगन्नाथ कविराय" शीर्षक से एक छोटे से लेख में एम. आर. शास्त्री कहते हैं कि **पडूशनामा** में जगन्नाथ को कलावन्त कह कर पुकारा गया है; रबी-उस-सानी (हिज़री संवत् 1044) के बाईसवें दिन उन्होंने शाहजहाँ के नाम से रचित अपनी तेरह संगीत रचनाएँ नवाब को भेंट कीं, जबकि उन्हें चाँदी में तोला गया, 4,500 रुपये भेंट किये गये और 'महाकविराय' की पदवी से सम्मानित किया गया । इस लेख में बताया गया है कि डा० कानूनगो इस जगन्नाथ को **रसगंगाधर** के रचयिता से अभिन्न मानते हैं । कहा जाता है कि उन्होंने अरबी ग्रन्थ **आलम ग़ीस्त** का **सिद्धान्तसार-कौस्तुभ** के नाम से संस्कृत में अनुवाद भी किया था और गणित ज्योतिष पर **सम्राट्सिद्धान्त** के नाम से भी एक ग्रन्थ तैयार किया था ।

यह सिद्ध करने के लिए साक्ष्य उपलब्ध है कि पण्डितराज मात्र एक उपाधि नहीं, अपितु मुग़ल सम्राट् के दरबार में एक उच्च पद था । जस्टिस रानाडे की पुस्तक **हिस्ट्री ऑफ महाराष्ट्रस्** के अनुसार शिवाजी के दरबार में धर्मसम्बन्धी विभाग के अध्यक्ष को पण्डितराज कहा जाता था; मुग़ल दरबार में भी ऐसी ही व्यवस्था रही होगी । हमारे जगन्नाथ मुग़ल दरबार में ऐसे ही पद पर रहे होंगे । इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि **आसफविलास** की पुष्पिका में जगन्नाथ कहते हैं–"श्रीसार्वभौमसाहिजहानप्रसादाधिगतपण्डितरायपदवीविराजितेन. . ." "सार्वभौम सम्राट् शाहजहाँ के प्रसाद से प्राप्त पण्डितराय की पदवी पर विराजित (जगन्नाथ द्वारा लिखित) ।" यहाँ "पण्डितरायपदवी" शब्द के प्रयोग को स्पष्टतया इस बात का सूचक माना जा सकता है कि यह एक पद का नाम था ।

संभवतः सन् 1658 में औरंगज़ेब द्वारा शाहजहाँ को बन्दी बना लेने और उसके बड़े पुत्र दारा की हत्या कर देने के बाद जगन्नाथ ने मुग़ल दरबार छोड़ दिया । वे असम के राजा प्राणनारायण के दरबार में चले गये और कुछ ही समय वहाँ रहे, क्योंकि सन् 1659 ई० में स्वयं प्राणनारायण को भी भूटान भागना पड़ा । दिल्ली से उखड़े और नये परिवेश

में बेचैन जगन्नाथ में अपने नये आश्रयदाता की एक नयी प्रशस्ति लिखने के लिए न तो उत्साह रहा होगा और न ही समय । इसलिए उन्होंने **जगदाभरण** को ही कामरूप-नरेश के हिसाब से ढाल दिया और उसका नाम **प्राणाभरण** रख दिया ।

जीवन की संध्या अपनी परम प्रिय पावन गंगा नदी के किनारे शान्ति और संतोष में व्यतीत करने के लिए वे असम से वाराणसी चले गये । इस बात की संभावना प्रायः नहीं है कि वे मथुरा गये हों, क्योंकि मथुरा आगरा के निकट है जहाँ राजनैतिक परिस्थितियाँ अभी तक व्यवस्थित नहीं हुई थीं ।

व्यक्तित्व और प्रकृति

जगन्नाथ के जीवन और समय के विषय में हमें कोई विश्वसनीय लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं है । फिर भी उनका व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है और उन रचनाओं के भीतर झाँकने पर सहृदय पाठक को जगन्नाथ का आवश्यक ख़ाका मिल सकता है ।

सुप्रसिद्ध लवंगी प्रसंग से स्पष्ट है कि जगन्नाथ परम्परागत आचारों का कट्टरता से पालन करने वाले नहीं थे । उनका श्लोक 'शीतार्ता इव०' उनके द्वारा दिल्ली के बादशाह को संबोधित बताया जाता है (देखें पृ. 9 तथा पादटि. 1) । इस श्लोक और लवंगी प्रसंग के आधार पर **भामिनीविलास** के टीकाकार अच्युतराय ने माना है कि जगन्नाथ की कोई धर्मपत्नी थी ही नहीं । किन्तु किसी एक आकस्मिक श्लोक के आधार पर ऐसे निष्कर्ष निकालना उचित नहीं (प्रसंगवश हम यह भी कह दें कि यह श्लोक जगन्नाथ से पूर्व के काव्यसंग्रहों में भी शामिल बताया जाता है) । यदि श्लोक में 'न वा युवतयः' के आधार पर जगन्नाथ की कोई पत्नी न होने का अनुमान हो सकता है तो फिर 'नास्माकं वसनम्' से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्राट् के संमुख आने पर जगन्नाथ के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था । इसके विपरीत आत्मकथात्मक शैली वाले **करुणविलास** के अनेक श्लोक सिद्ध करते हैं कि जगन्नाथ की हिन्दू रीति से परिणीता एक हिन्दू पत्नी थी । **करुणविलास** के पाँचवें पद्य में हिन्दू विवाह की सप्तपदी का उल्लेख है :

" विवाह में, पाँव फिसलने के भय से तुमने मेरा हाथ पकड़ कर वेदी पर आरोहण किया था । ओ विलासिनि, आज मुझे छोड़ कर अकेले तुम्हारे स्वर्गारोहण की बात सोचकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा है ।"

संभवतः उनकी इस पत्नी का नाम कामेश्वरी था जो तेलुगु परिवारों में प्रायः मिलने वाला नाम है । निम्नलिखित पद्य में इसका उल्लेख मिलता है :

"दुग्ध-धवल स्मितों का अमृत वह मुझ पर बरसाती थी और पूर्णविकसित कमलों

जैसे नेत्रों से सदा मुझे पूजती थी । मेरी वह प्रिया, मेरे घर की देवी, नित्य मंगलमयी कामेश्वरी मेरे हृदय से जाती नहीं है ।"

महादेवसूरि स्वयं को जगन्नाथ का पौत्र बतलाते हैं । **करुणविलास** के पहले और बारहवें श्लोक पर उनकी टीका से पता चलता है कि जगन्नाथ ने पुत्र-पौत्रों के साहचर्य का आनन्द पाया था, किन्तु उनकी पत्नी का देहान्त उनसे पहले हुआ था । इस सबसे सिद्ध होता है कि जगन्नाथ की धर्मशास्त्र के अनुसार परिणीता पत्नी थी और उन्होंने पुत्र-पौत्रों का साहचर्य भी पाया था ।

जगन्नाथ के पास गहन पाण्डित्य था, दुर्धर्ष तार्किक कौशल था और आत्मविश्वास से परिपूर्ण काव्य-प्रतिभा भी । पहले दोनों गुण उनके ग्रन्थ **रसगंगाधर** में स्पष्ट है । वे आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के प्रति अत्यन्त सम्मान रखते हैं किन्तु मूल प्रश्नों पर उनसे मतभेद होने पर उनकी प्रामाणिकता को भी चुनौती देते हैं । अपने काव्य-कौशल में उनका विश्वास अनेक अवसरों पर स्पष्टतया अभिव्यक्त हुआ है । अपनी एक प्रसिद्ध कविता में वे सभी समकालीन कवियों को चुनौती देते हैं ।

"मेरु पर्वत से दक्षिणी समुद्र के तटों तक निवास करनेवाले काव्य-रचना में कुशल समस्त कविगण निःशंक होकर कहें : मेरे अलावा कौन है जो अंगूर के बीच से टपकते हुए रस की भाँति मधुर काव्य की रचना में नैपुण्य का दावा कर सके ।" **(शान्तविलास, पृ. 26)**

एक अन्य पद्य में जगन्नाथ उस कवि को अपने सम्मुख काव्यपाठ करने से निषेध करते हैं जिसे यह विश्वास न हो कि उसका काव्य दलित द्राक्षारस की भाँति मधुर है । अन्यथा वे उसे गुप्त रूप से किये गये पापकर्म की भाँति अपनी कला को हृदय में ही छिपा लेने की सलाह देते हैं । **(पं.का.सं., पृ. 78)**

रसगंगाधर में प्रसाद गुण की चर्चा करते हुए वे अत्यन्त विश्वास के साथ कहते हैं कि प्रसाद गुण के उदाहरण के तौर पर उनके प्रायः सभी पद्य लिये जा सकते हैं ।**(र.ग, पृ. 82)** । अपनी काव्यप्रतिभा को लेकर जगन्नाथ का यह आत्मविश्वास सर्वथा अनुचित नहीं है । कुछ विद्वान् उन्हें कालिदास के बाद सर्वश्रेष्ठ कवि मानने को तैयार हैं जो ठीक भी है । **(भामिनीविलास** पर हरदत्त शर्मा की प्रस्तावना, पृ. 15)

शांकर अद्वैत में अटल विश्वास रखनेवाले जगन्नाथ शिव और विष्णु दोनों के प्रति समान भक्ति प्रकट करते हैं, फिर भी विष्णु के प्रति उनका अधिक झुकाव दिखाई देता है । गंगा और यमुना के प्रति उनमें गहरी भक्ति है । प्रसंगतः, इससे यह भी प्रमाणित होता है कि जगन्नाथ का अधिकांश जीवन इन्हीं दोनों पवित्र नदियों के समीप बीता था, गोदावरी या कृष्णा के समीप नहीं । अन्यथा अपने मूल निवास-स्थान की दोनों नदियों के प्रति उनका अनुराग किसी न किसी रूप में अवश्य प्रकट होता ।

जगन्नाथ ने अपने समकालीन जीवन का सूक्ष्म अवलोकन किया था । प्रणयी जनों का ध्यान आकृष्ट करने को उत्सुक सुन्दरियों की विलास-चेष्टाएँ उन दिनों मुग़ल साम्राज्य की राजधानी में आये दिन दिखाई पड़ती होंगी और वे जगन्नाथ की पैनी दृष्टि से अछूती नहीं रही हैं । ऐसी ही एक घटना को निम्नलिखित पद्य में सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है :

"अपने घर में प्रविष्ट होने से पूर्व करुणावती बाला ने विदा की आज्ञा लेने की प्रतीक्षा में गली में खड़े तरुणों पर अपने नयनकमलों की माला फेंक दी ।" **(र.ग. ,पृ. 121)**

इस पद्य का प्रसंग स्वयं कवि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है : "असाधारण सौन्दर्यशालिनी कोई युवती जब घर लौट रही थी तो उसके रूप से खिंच कर कुछ युवक उसके पीछे-पीछे आए । घर पहुँच कर जब वह भीतर प्रवेश करने लगी तो वे गली में विदा लेने के लिए उसकी अनुमति की प्रतीक्षा करने लगे जो उसने उन पर अपने सुदीर्घ नयनों से दृष्टि डाल कर प्रदान की ।" इस प्रकार इस छोटे-से पद्य में कवि ने ऐन्द्रिक सुखों के प्रति समर्पित मुग़ल राजधानी के वातावरण को खूब स्पष्ट किया है ।

कपोत-युगलों को पालने का उन दिनों खूब प्रचलन था जिसे कुछ लोग आज भी बड़ी निष्ठा से निबाहते हैं । इसकी आकर्षक अभिव्यक्ति जगन्नाथ के एक और सुन्दर पद्य में हुई है :

"कपोत की कामुक चेष्टाओं की उपेक्षा कर वेग से जाती हुई कपोती को रोककर कपोत के सम्मुख करते हुए मुझे देखकर उसने (मेरी प्रिया ने) लजा कर धीरे-से अपना सिर झुका लिया ।" **(रा.ग., पृ. 98)**

एक स्थल पर जगन्नाथ बतलाते हैं कि कैसे कभी-कभी अलंकार का सौन्दर्य ध्वनि के सौन्दर्य को ढक लेता है । यहाँ वे एक सुन्दर उदाहरण देते हुए उस गँवार युवती की चर्चा करते हैं जो भारी मात्रा में अंगराग आदि द्वारा अपने सहज सौन्दर्य को ढक लेती है **(रा.ग., पृ. 23)**। इससे अपने समय के फ़ैशन के विषय में जगन्नाथ की सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है ।

गंगा को संबोधित एक प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी पद्य में अपने पापों के लिए जगन्नाथ का सच्चा पश्चात्ताप-बोध व्यञ्जित होता है ।

"हे सुन्दरी । अपनी कमर कस लीजिये । अर्द्धचन्द्र को मुकुट में सर्पों की डोरियों से बाँध लीजिये । साधारण जन समझकर आराम से न बैठिये; यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है ।"

किसी भी जीवनी-लेखक से हमें इस महान् कवि-आलोचक का प्रामाणिक शब्दचित्र प्राप्त नहीं होता । यदि शैली ही मनुष्य की पहचान है और लेखक का मानस उसकी कृतियों में प्रतिबिम्बित होता है तो हमारे सामने जगन्नाथ की छवि एक सुन्दर और प्रत्युत्पन्नमति व्यक्ति के रूप में उभरती है, जिसमें आत्मविश्वास से भरा हुआ दर्प था, तीखी ज़बान थी

और जो आचार-व्यवहार के रूढ़िगत बन्धनों से मुक्त था; एक ऐसा व्यक्ति जो सांसारिक सुखों को भोगने के लिए उत्सुक था किन्तु विद्वत्ता के क्षणों में, अथवा शाही इच्छा की माँग पर, अपने प्रतिभासंपन्न मस्तिष्क को उत्कृष्ट कविता अथवा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ की रचना में लगाने के लिए भी तत्पर था । लेकिन दर्पपूर्ण आत्म-विश्वास के आवरण को हटाकर देखें तो इस विद्वान् आलोचक के पीछे हमें ईश्वर से प्रार्थना करते हुए यौवन की भूलों पर पश्चात्ताप करने वाला एक निष्ठावान् ब्राह्मण दिखाई देता है जो भगवान् के चरणकमलों में चिरन्तन विश्राम पाने का इच्छुक है ।

दो

कृतित्व

जगन्नाथ की कृतियाँ

निम्नलिखित कृतियाँ पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा रचित मानी जाती हैं :

1. **गंगालहरी या पीयूषलहरी** : यह गंगा की स्तुति में रचित 53 पद्यों का अत्यन्त लोकप्रिय काव्य है (**पण्डितराजकाव्यसंग्रह,** पृ. 3-9) ।
2. **अमृतलहरी** : यह यमुना नदी की स्तुति में निर्मित, 11पद्यों का काव्य है (**पं. का. सं.** पृ. 13-14) ।
3. **करुणालहरी** : भगवान् विष्णु की स्तुति में 65 पद्यों का काव्य है (**पं.का.सं.,** पृ. 17-20) । **भामिनीविलास** के पूना संस्करण की प्रस्तावना (पृ. 9) के अनुसार इसमें 60 पद्य हैं ।
4. **लक्ष्मीलहरी** : भगवती लक्ष्मी की स्तुति में 41 पद्यों का काव्य है (**पं.का.सं.,** पृ. 23-27) ।
5. **सुधालहरी** : यह भगवान् सूर्य की स्तुति में निर्मित 30 पद्यों का काव्य है (**पं.का. सं.,** पृ.31-34) ।
6. **यमुनावर्णनम्** : यह यमुना नदी की प्रशंसा में कोई गद्यरचना या चम्पूकाव्य है जो अभी अनुपलब्ध है । इस कृति से दो-दो पंक्तियों के मात्र दो उद्धरण **रसगंगाधर** में मिलते हैं ।
7. **आसफविलास** : यह आसफ़ खाँ पर लिखित प्रशस्ति है जिसे मथुरा के रायमुकुट के आग्रह पर लिखा गया था । आसफ़ खाँ नूरजहाँ का भाई और शाहजहाँ का श्वसुर था जिसका मुग़ल साम्राज्य के संचालन में ज़बर्दस्त प्रभाव था । यह लगभग ७५ पंक्तियों की एक आख्यायिका है* । इसका आरम्भ एक छोटे से गद्यांश से हुआ है जिसके बाद चार श्लोक हैं, और समापन लगभग डेढ़ पृष्ठ लम्बे एक गद्यांश से होता है (**पं.का.सं.,** पृ.83-84) ।

8-9. **जगदाभरण** और **प्राणाभरण** लगभग एक से ही हैं । इनमें भेद केवल न.यकों के नामों और विशेषणों में किये गये मामूली परिवर्तनों का है जिससे उन्हें वर्णित राजा के अनुकूल बैटाया जा सके । उदाहरण के लिए, **जगदाभरण** के दूसरे श्लोक की चौथी पंक्ति

---

* इस कृति के लघु आकार पर जे. बी. रायचौधरी कहते हैं "यह आश्चर्यजनक है कि पाण्डुलिपि की पुष्पिका सुरक्षित होते हुए भी उसका उपसंहार इतना आकस्मिक है । स्पष्टतः यहाँ कुछ अंश लुप्त हो चुका है ।" **मुस्लिम पैट्रोनेज टु संस्कृत लर्निंग,** पृ. 115 (पादटिप्पणी) ।

'जागर्तु क्षितिमण्डलोपरि जगत्सिंहो धराधीश्वरः' को **प्राणाभरण** में 'जागर्तु क्षितिमण्डले चिरमिह श्रीकामरूपेश्वरः' में बदल दिया गया है । 53 श्लोकों के इस काव्य में, जिस पर कवि ने स्वयं टीका लिखी है, ऐसे परिवर्तन केवल आठ स्थानों पर मिलते हैं ।

जैसा नाम से ही मालूम हो जाता है, ये दोनों काव्य दो राजाओं की प्रशस्तियाँ हैं । पहले हम देख चुके हैं कि **जगदाभरण** संभवतः उदयपुर के राजा कर्ण के पुत्र राजा जगत्सिंह की प्रशस्ति में रचा गया था । जब पण्डितराज को मुग़ल दरबार छोड़ना पड़ा तो उन्होंने असम के प्राणनारायण के यहाँ आश्रय लिया । प्राणनारायण पर एक नया प्रशस्तिकाव्य रचने की प्रेरणा या अवकाश संभवतः उन्हें नहीं मिल सका और इसलिए उन्होंने जहाँ-तहाँ अपने निपुण स्पर्श से **जगदाभरण** को ही **प्राणाभरण** में परिवर्तित कर दिया ।

जगदाभरण को दाराशिकोह की प्रशस्ति बतलाने वाली कुछ विद्वानों की मान्यता को अन्य विद्वान् गलत ठहराते हैं और काव्य के शीर्षक और 'श्रीकर्णजन्मार्णवः' जैसे विशेषणों से भी यही सूचित होता है । हरदत्त शर्मा **भामिनीविलास** की प्रस्तावना लिखते समय परांजपे के ऐसे ही विचारों को उद्धृत करते हुए उनसे सहमति प्रकट करते हैं । किन्तु जैसा (हरदत्त शर्मा के उद्धरण में) परांजपे भी बतलाते हैं, इस काव्य के पाँचवें श्लोक की चौथी पंक्ति में **रसगंगाधर** में 'श्रीप्राणनारायणः' अथवा 'श्रीकर्णजन्मार्णवः' के स्थान पर 'दिल्लीधरावल्लभः' पाठ मिलता है और तीन अन्य श्लोकों में भी **रसगंगाधर** का पाठ **जगदाभरण** या **प्राणाभरण** में मिलने वाले पाठ से भिन्न है । **प्राणाभरण** में 15 वें श्लोक की चतुर्थ पंक्ति इस प्रकार है : 'जानीमो भवता न हन्त विदितः श्रीकामरूपेश्वरः ।' **रसगंगाधर** में 'श्रीकामरूपेश्वरः' के स्थान पर "दिल्लीधरावल्लभः' पाठ मिलता है । 23वें श्लोक की चतुर्थ पंक्ति **जगदाभरण** में इस प्रकार है : 'नुतो निखिलभूसुरैर्विजयते जगत्केसरी ।' **प्राणाभरण** में इसके स्थान पर 'जयति कामरूपेश्वरः' और **रसगंगाधर** में 'जयति कोऽपि भूमीपतिः" पाठ मिलते हैं । **प्राणाभरण** के 26वें श्लोक की चतुर्थ पंक्ति 'सा भाति क्षोणिशोभाकरण तव दृशोः सङ्गरे शोणिमश्रीः' को **रसगंगाधर** में 'क्षोणीन्दो सङ्गरे ते लसति नयनयोरुद्भटा शोणिमश्रीः' में बदल दिया गया है । इन पाठभेदों से (विशेषतः पहले दो श्लोकों में) यह समझा जा सकता है कि जगन्नाथ ने वही **जगदाभरण**, कुछ परिवर्तनों के साथ, दाराशिकोह की प्रशस्ति के तौर पर इस्तेमाल किया और इसमें उन्होंने काव्य का नाम बदलना भी आवश्यक नहीं समझा क्योंकि इसे शहज़ादे का विशेषण (जगत् का आभूषण) भी मानां जा सकता था । एक ही काव्य को दो या तीन राजाओं की प्रशस्ति के तौर पर इस्तेमाल करने का कारण समय या प्रेरणा का अभाव हो सकता है । **रसगंगाधर** की प्रस्तावना में दुर्गाप्रसाद कहते हैं कि उनकी देखी हुई **जगदाभरण** की एक पाण्डुलिपि में प्राणनारायण के स्थान पर दाराशिकोह का नाम मिलता है । इस प्रकार पण्डितराज ने एक तीर से (दो नहीं) तीन शिकार किये हैं ।

10. **भामिनीविलास :** यह (1) **प्रास्ताविकविलास**, (2) **शृंगारविलास**, (3) **करुणविलास**

और (4) **शान्तविलास** नामक चार विलासों में मुक्तकों का संग्रह है । **शान्तविलास** के 33वें पद्य में कवि का कहना है कि उसने अकुलीन कुकवियों द्वारा हरण से बचाने के लिए अपने पद्यरत्नों की यह मंजूषा (**भामिनीविलास**) तैयार की है । उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित **पण्डितराजकाव्यसंग्रह** में यह रचना समाविष्ट है जिसके अनुसार इसमें कुल 365 पद्य हैं : **प्रास्ताविकविलास** 122, **शृंगारविलास** 180, **करुणविलास** 19 और **शान्तविलास** 44 ।

यद्यपि ग्रन्थ का नाम **भामिनीविलास** है, फिर भी चारों विलास, जिनमें यह विभाजित है, भामिनी से संबद्ध प्रतीत नहीं होते; केवल **शृंगारविलास**, जिसमें प्रेम के कुछ पक्षों का चित्रण है, और अप्रत्यक्ष रूप से **करुणविलास** भी, भामिनी से सम्बद्ध है ।

11. **चित्रमीमांसाखण्डन** : इस ग्रन्थ की रचना अर्थालंकारों पर लिखे गये अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ **चित्रमीमांसा** के खण्डन के लिए हुई है । **चित्रमीमांसाखण्डन** अपह्नुति प्रकरण पर समाप्त हो जाता है जबकि **चित्रमीमांसा** में दो और अलंकार हैं : उत्प्रेक्षा और, आंशिक रूप में, अतिशयोक्ति । कारण स्वतः स्पष्ट है । उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति पर अप्पय दीक्षित का कोई खण्डन **रसगंगाधर** में नहीं मिलता जो कि इस ग्रन्थ का आधार है । इस ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक कहते हैं कि **रसगंगाधर** में दिखलाये गये **चित्रमीमांसा** के दोषों को वे यहां विद्वानों की सुविधा के लिए संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं । इस कथन से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना **रसगंगाधर** के उपरान्त हुई ।

12. **मनोरमाकुचमर्दन** : यह भट्टोजि दीक्षित की पुस्तक **प्रौढमनोरमा** की आलोचना में लिखित 26 पृष्ठों की छोटी सी रचना है । यह स्वादिसन्धि के अन्त तक लिखित है* ।

पण्डितराज को कुछ और ग्रन्थों की रचना का श्रेय दिया जाता है जो इस प्रकार हैं : **काव्यप्रकाशटीका, शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन, रतिमन्मथनाटक, वसुमतीपरिणयनाटक** और **अल्लोपनिषद्** ।

इन रचनाओं के अलावा पण्डितराज अपनी एक आख्यायिका का भी उल्लेख करते हैं जिससे वे कण्व के आश्रम में एक युवती का वर्णन करने वाली एक पंक्ति **रसगंगाधर** (पृ. 58) में उद्धृत करते हैं । जगन्नाथ मध्यमकाव्य का उदाहरण देने के लिए **यमुनावर्णन** का एक गद्यांश उद्धृत करते हैं और यह ज्ञात नहीं है कि यह वाक्य ऊपर उल्लिखित आख्यायिका का ही है या किसी और कृति से उद्धृत है ।

रसगंगाधर

उद्भट विद्वान् और आलोचक के रूप में जगन्नाथ की कीर्ति उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **रसगंगाधर** पर ही टिकी है । "काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ध्वन्यालोक और

* यह प्रौढ़मनोरमा के चौखम्बा संस्करण (1934) के साथ परिशिष्ट के रूप में मुद्रित है ।

काव्यप्रकाश के बाद रसगंगाधर को ही रखा जा सकता है ।" (**हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स**, पृ. 321) "यह जगन्नाथ की उत्कृष्ट कृति है जिसमें वे अपने तर्कनैपुण्य, सूक्ष्म चिन्तन, प्राञ्जल शैली और अलंकारशास्त्र की अपनी गहरी पकड़ और अन्तर्दृष्टि को प्रकट करते हैं । खेद का विषय है कि ग्रन्थकार ने इसे अधूरा छोड़ दिया अन्यथा इसने मम्मट के काव्यप्रकाश को भी सर्वथा निष्प्रभ कर दिया होता ।" (**भामिनीविलास** पर हरदत्त शर्मा की प्रस्तावना, पृ. 11)

जगन्नाथ ध्वनि-सिद्धान्त के महानतम आचार्यों में अन्तिम हैं । उनकी महत्ता किसी नये सिद्धान्त के प्रतिपादन से भी अधिक यथार्थ और सुस्पष्ट लक्षणों की सहायता से पुराने सिद्धान्तों को विशद परिप्रेक्ष्य में रखने में है । जगन्नाथ मानते हैं कि उनका कार्य अन्य आचार्यों के विचारों का परिष्कार और नये परिप्रेक्ष्यों में उनकी पुनः प्रस्तुति है । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके पास कहने को मौलिक कुछ नहीं है । वे प्राचीन सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में नये आयाम जोड़ते हैं और ऐसा करते समय वे हर बार निर्दोष साहित्यिक अभिरुचि, अद्‌भुत तार्किक वैदग्ध्य और ठोस सहजबोध का परिचय देते हैं जो किसी भी युग के आलंकारिकों में दुर्लभ है । पी. सी. लाहिड़ी के शब्दों में, "यह सच है कि वे प्रायः ध्वनिवादियों के प्रमुख सिद्धान्तों के अनुयायी थे, फिर भी कोई भी सावधान प्रेक्षक इसे अनदेखा नहीं कर सकता कि वे अपनी रचना में सर्वत्र प्रबल स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं । इसलिए वे ध्वनि-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्यों के कुछ सुस्थापित मतों को आलोचना के संमुख ठहरने में असमर्थ कह कर अवज्ञा के साथ अस्वीकार कर देते हैं और जिन्हें स्वीकार भी करते हैं वे भी उनकी गहरी जाँच-पड़ताल की अग्नि-परीक्षा से गुज़र कर ही स्वीकार्य होते हैं । विभिन्न विषयों को सशक्त भाषा में पुनः प्रस्तुत करने की उनकी एक विशिष्ट शैली है जिसके कारण दीर्घकाल से स्वीकृत मत भी उनके द्वारा सद्यःप्रतिपादित प्रतीत होते हैं ।" (**कॉन्सेप्ट ऑफ रीति एंड गुण**, पृ. 200)

मिथिला में चौदहवीं शताब्दी में उद्‌भूत और बंगाल में नवद्वीप के विद्वानों द्वारा परिवर्धित नव्य-न्याय ने पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक विद्वानों और बौद्धिकों पर गहरा प्रभाव जमा लिया था । नव्य-न्याय की शब्दावली में अभिव्यक्त हुए बिना कोई भी शास्त्र स्वीकृति नहीं पा सकता था । **रसगंगाधर** के माध्यम से अलंकारशास्त्र में ऐसा करने के जगन्नाथ के प्रयास को ज़बर्दस्त सफलता मिली । **रसगंगाधर** सचमुच ही एक चमत्कारिक उपलब्धि है जहाँ विभिन्न आचार्यों की सौन्दर्यशास्त्रीय अन्तर्दृष्टियों को नव्य-न्याय में सुलभ समस्त युक्तियुक्तता, तर्कशक्ति और सटीकता के साथ प्रतिपादित किया गया है । आगे या पीछे कोई भी अन्य लेखक सौन्दर्यशास्त्र और तर्कशास्त्र को इस प्रकार एक समग्र और स्वतःपूर्ण शास्त्र के रूप में संयोजित नहीं कर सका है जैसे पण्डितराज जगन्नाथ ने **रसगंगाधर** में किया है ।

अपने ग्रन्थ में जगन्नाथ ने उदाहरणं के रूप में स्वयं अपने पद्यों का समावेश किया है और इस संबन्ध में उनका अभिमानपूर्ण सन्तोष उचित ही है । वे कहते हैं : "लक्षण के अनुरूप उदाहरण देने के लिए अपने नये पद्य बनाकर मैंने इस कृति में रखे हैं, किसी अन्य का एक पद्य भी यहाँ नहीं है । क्या कभी (अपने शरीर से ही) कस्तूरी उत्पन्न करने वाला मृग पुष्पों की गन्ध का सेवन करता है ?" स्पष्टतः इस पद्य में अप्पय दीक्षित के कथन के प्रति व्यंग्य निहित है जो कहते हैं कि उन्होंने **चित्रमीमांसा** में उदाहरण देने के लिए प्राचीन कवियों के पद्यों का ही चयन किया है ।

रसगंगाधर लिखते समय जगन्नाथ ने अपनी उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा का पूरा-पूरा लाभ उठाया है । मम्मट को भी मधुर रचना के मात्र नियम बनाकर संतुष्ट रह जाना पड़ा । वे इसके उपयुक्त उदाहरण नहीं दे सके । किन्तु जगन्नाथ काव्य की मधुर रचना के लिए कठोरतर नियम बना कर भी उदाहरण के रूप में अपने पद्यों को प्रस्तुत कर सके हैं ।

इस पद्धति के विरुद्ध कहा जा सकता है कि यद्यपि जगन्नाथ अपने कुछ पूर्ववर्तियों की भाँति अपने स्वयं के उदाहरण देते हैं, और इस प्रकार उन्हें उपयुक्त उदाहरणों के चयन के लिए विशाल साहित्य के मन्थन का कष्ट नहीं उठाना पड़ता, फिर भी उन्होंने अवश्य ही तार्किक क्रम को उलट दिया है, क्योंकि लक्ष्य को अपने निर्देशों का अनुगामी बनाने के बजाय लक्षणशास्त्र को विद्यमान लक्ष्यों का अनुगमन करना चाहिए । इस कथन में कुछ सच्चाई तो अवश्य है किन्तु जगन्नाथ के समय तक (या उनसे भी पहले) अलंकारशास्त्र के नियम इतने सुस्थापित हो चुके थे कि लक्ष्यों के अनुगमन को लक्षणशास्त्र का धर्म समझने की परम्परा नहीं रह गई थी । पहले ही लक्षणशास्त्र की स्थिति अन्तिम निर्णायक की बन चुकी थी और इसी कारण जगन्नाथ कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति पूर्वनिश्चित नियमों के अनुसार पद्यरचना करने में प्रवृत्त हुए ।' घोड़े के आगे गाड़ी रखने' का यह उपयुक्त उदाहरण है ।

ग्रन्थ के रूपकपरक शीर्षक के अनुसार जगन्नाथ इसे 'आननों' में विभाजित करते हैं । इस कारण अनेक विद्वान् यह समझते हैं कि वे इस ग्रन्थ को शिव के पाँच मुखों के अनुरूप पाँच आननों में विभाजित करना चाहते थे और, कि द्वितीय आनन के कुछ भाग के साथ-साथ अन्तिम तीन आनन नष्ट हो चुके हैं । कुछ का मत है कि पण्डितराज इस ग्रन्थ को पाँच आननों में पूर्ण करना चाहते थे किन्तु ऐसा कर न सके ।

ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचने से पूर्व यह देखना समीचीन होगा कि इन नष्ट अथवा अलिखित अध्यायों की विषय-वस्तु क्या रही होगी । जैसा ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं, इस ग्रन्थ की रचना में उनका अभिप्राय मुख्य रूप से अलंकारशास्त्र में पहले विवेचित विषयों को परिभाषित करना और उन्हें एक ठोस आकार देना था । इसलिए यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं कि उन्होंने ऐसे विषयों पर भी लिखने की चेष्टा की होगी जिन्हें पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों द्वारा निश्चित आकार दिया जा चुका था, या जिन पर उनके पास कुछ मौलिक

कहने के लिए नहीं था । उदाहरण के लिए, वे ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास बिल्कुल नहीं करते और मात्र इसके प्रमुख भेदों का उल्लेख कर संतुष्ट हो जाते हैं । इस दृष्टि से देखने पर बहुत थोड़े से विषय हमारे ग्रन्थकार द्वारा अविवेचित दिखलाई देते हैं, जैसे शब्ददोष और अर्थदोष (रसदोषों की चर्चा उन्होंने क़ी है) और शब्दालंकार आदि, जिन पर संभव है वे और अधिक कुछ न जोड़ना चाहते रहे हों । हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि उन्होंने एक अध्याय **नाट्यशास्त्र** पर लिखा होगा, क्योंकि इस खण्ड में वे अपनी प्रतिभा का कोई विशेष उपयोग नहीं कर सकते थे । विश्वनाथ या अन्य आचार्यों की भाँति **दशरूपक** अथवा किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ की परिभाषाओं और उदाहरणों को नीरस ढंग से दुहराना हमारे ग्रन्थकार की प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है । मम्मट जैसे प्रसिद्ध आचार्य भी, जिनके अनुकरण की चेष्टा हमारे ग्रन्थकार ने की है, काव्यशास्त्र के इस अंश पर मौन हैं । इस प्रकार अलंकारशास्त्र का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय मिलना कठिन है जो जगन्नाथ से इन दो आननों में छूट गया हो । यह सच है कि द्वितीय आनन के कुछ अंश लुप्त हो चुके हैं, उपलब्ध अंशों में मिलने वाले कुछ उल्लेखों से भी यह स्पष्ट है; किन्तु आवश्यक नहीं कि यह लुप्त अंश तीन आननों में फैला हुआ हो । इसलिए यह मानना तर्कसंगत होगा कि पण्डितराज ने अर्धनारीश्वर की अवधारणा के अनुरूप अपने ग्रन्थ को दो आननों में बाँटा होगा जिनमें रसपरक प्रथम आनन गंगाधर शिव का है (जो वास्तविक **रसगंगाधर** है) और दूसरा अम्बिका अंश का है ।

इस प्रसंग में यह भी अवधेय है कि तथाकथित प्रथम आनन की पुष्पिका में इसे 'प्रथमम् आननम्' न कह कर 'पूर्वम् आननम्' कहा गया है (काशी संस्करण), यद्यपि पाँच आननों की परिकल्पना के प्रति पक्षपात से ग्रस्त मानस वाले संपादकगण बड़े आराम से ' पूर्वम् आननम्' को 'प्रथमम् आननम्' के रूप में ही लेते हैं । इसलिए यह सोचकर दुःखी होने की आवश्यकता नहीं कि **रसगंगाधर** के अनेक महत्त्वपूर्ण 'आनन' लुप्त हो चुके हैं ।

तीन

जगन्नाथ के काव्यकला-सम्बन्धी विचार

आलंकारिकों में जगन्नाथ का स्थान बहुत ऊँचा है, वस्तुतः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के बाद उन्हीं का स्थान है । ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल प्रशंसक होते हुए भी जगन्नाथ ध्वनि को ही काव्य में सब कुछ मानने के पक्ष में नहीं हैं । वे समझते हैं कि रमणीयता या उसका पर्याय चमत्कार ही काव्य की आत्मा है जबकि ध्वनि के विभिन्न प्रकार रमणीयता के सहकारी तंत्त्वों के रूप में कार्य करते हैं । अब हम काव्य के सारतत्त्व के विषय में जगन्नाथ के विचारों का अनुशीलन करेंगे ।

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट द्वारा ध्वनिवाद की स्थापना होने के साथ यह लगभग एक निर्विवाद उक्ति बन चुकी है कि ध्वनि से आप्लावित हुए बिना कोई भी काव्य, काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता । आनन्दवर्धन तो ध्वनि को सामान्यतः किसी भी रूप (चाहे वह वस्तु हो या अलंकार अथवा रस) में महत्त्व देकर संतुष्ट हैं, किन्तु अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से कहते हैं कि रस ही काव्य की आत्मा है । इस प्रकार वे श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में भी रसवाद के आयात की प्रक्रिया पूरी कर देते हैं और इसमें विश्वनाथ जैसे लेखक उनके अनुयायी हैं । जगन्नाथ की विवेचक बुद्धि को समस्त काव्य की अनिवार्य शर्त बनाने की सीमा तक रस और ध्वनि का उन्नयन स्वीकार्य नहीं है । काव्य की उनकी परिभाषा (रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्), बल्कि कहें कि संपूर्ण **रसगंगाधर**, काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि और रस को मिले निर्विवाद प्रभुत्व के विरुद्ध अघोषित विद्रोह है ।

जगन्नाथ के ऐसे विचार उचित प्रतीत होते हैं । नाटक में रस को इस प्रकार का प्रभुत्व मिलना समझ में आ सकता है । नाटक में चतुर्विध अभिनय जैसे सहयोगी तत्त्वों के माध्यम से संपूर्ण दर्शकवर्ग को एक भावात्मक संमोहन में बाँध कर रखना सरल और संभव है । किन्तु श्रव्यकाव्य के संबन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता और इसलिए यहाँ रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी व्यंग्यार्थ, और वाच्यार्थ द्वारा भी, इसे सीमित मानना चाहिए । इसलिए पण्डितराज काव्य में महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में रमणीयता पर बल देते हैं जो व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, अलंकार, गुण, रस या भाव किसी से भी उत्पन्न हो सकती है । यह काव्य के क्षेत्र में न केवल रस, अपितु ध्वनि के भी अव्यक्त प्रभुत्व की स्पष्ट अस्वीकृति है । पण्डितराज के इस दृष्टिकोण की स्पष्ट व्याख्या एस. एन. दासगुप्त ने अपनी पुस्तक **फंडामेन्टल्स ऑफ़ इंडियन आर्ट** (पृ. 1-2) में इस प्रकार की है : "जगन्नाथ ने ....'सुन्दर' के अर्थ में 'रमणीय' शब्द के प्रयोग की शुरुआत की और काव्य को शब्दों व उनके अर्थों के समुचित सामंजस्य के रूप में परिभाषित किया ।.....उन्होंने इसे पारम्परिक रस से पृथक् किया जो सृजन एवं संप्रेषण की काव्य और काव्येतर

विधाओं से जनित सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द माना जाता है । वे कहते हैं कि अनेक प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ ऐसी हो सकती हैं जो मन को हल्के से चमत्कृत करती हैं किन्तु गहनतर भावों या रस को उद्बुद्ध नहीं करतीं । यह आस्वाद रमणीय के स्पर्श से युक्त हो सकता है किन्तु शास्त्रीय अर्थ में यह भाव या रस से भिन्न है ।" यह सचमुच विचित्र-सी स्थिति है जिसकी अपेक्षा कम से कम **रसगंगाधर** के लेखक से तो नहीं थी, किन्तु यह वहाँ स्पष्टतः निर्दिष्ट है ।

जगन्नाथ अलंकारों को जो महत्त्व देते हैं उसमें भी उनकी यही प्रवृत्ति झलकती है । उनके ग्रन्थ का नाम **रसगंगाधर** होने पर भी ग्रन्थ का बड़ा भाग अलंकारों पर ही है । यह अलंकारों के उस महत्त्व को पुनर्जीवित करने का सुविचारित प्रयास है जो उन्हें मात्र रस का उपस्कारक माननेवाले आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे प्राचीन आचार्यों के हाथों लुप्त हो चुका था । जगन्नाथ से पूर्व रुय्यक और जयरथ जैसे कुछ आचार्यों ने अवश्य अलंकारों की खोई हुई महिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था । उन्होंने पूरी तरह अलंकारों को लेकर अपने ग्रन्थ लिखे, किन्तु वे भी ध्वनिकार और मम्मट जैसे प्राचीन आचार्यों के सुप्रतिष्ठित विचारों के विरुद्ध नहीं जा सके थे और काव्य में अलंकारों के स्थान के विषय में उन्होंने वही विचार दुहराये हैं । किन्तु पण्डितराज असंदिग्ध शब्दों में न केवल रस को, अपितु किसी भी व्यंग्य को और यहाँ तक कि वाच्य को भी, अलंकारों द्वारा अलंकार्य घोषित करते हैं **(र.ग., पृ. 226)** । वे पेटिकाभरण-न्याय को लागू करते हुए स्वतः एक साहित्यिक प्रवर्ग के रूप में अलंकारों के महत्त्व का समर्थन करते हैं **(र.ग., पृ. 228)** यद्यपि ऐसी स्थिति में उन्हें शास्त्रीय रूप में अलंकार नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार पण्डितराज के हाथों अलंकारों की महत्ता में ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ है और यह काव्य के निर्णायक तत्त्व के विषय में जगन्नाथ की अवधारणा के अनुरूप ही है । जैसा हम देख चुके हैं, रमणीयता या चमत्कार (लोकोत्तर आह्लाद) ही वह निर्णायक तत्त्व है जो किसी साहित्यिक रचना को काव्य की स्थिति तक उठाता है और अलंकार भी स्वयं में चमत्कार का उद्गम है; अतः ज़ब तक चमत्कार बना रहता है तब तक कुछ भी इसका अलंकार्य हो सकता है ।

जगन्नाथ के काव्य-वर्गीकरण में उत्तम काव्य पर उनके मत की परीक्षा हम शीघ्र ही करेंगे और इससे उनके द्वारा साहित्यिक रचना में चमत्कार को दिये गये महत्त्व को भी समझ सकेंगे ।

चमत्कार को जगन्नाथ ने किस सीमा तक महत्त्व दिया है, यह इससे भी स्पष्ट है कि विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा की मीमांसा करते समय वे इस अवसर का उपयोग बड़ी चतुराई से अपने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए करते हैं कि रसहीन, किन्तु अलंकार अथवा वस्तुध्वनि से आप्लावित रचनाओं में काव्यत्व को नकारना असंभव है । जगन्नाथ के अनुसार ऐसे काव्य-प्रसंगों में रस के साथ परम्परा या जैसे-तैसे थोड़ा बहुत सम्बन्ध खोजने का कोई भी प्रयास निरर्थक परिश्रम है । रस और ध्वनि के सुप्रतिष्ठित सिद्धान्तों का खुला विरोध करने की अपेक्षा एक भिन्न दिशा लेते हुए चमत्कार पर अपने

विचारों का प्रतिपादन करने की इस नीति के मूल में निहित कारण, प्राचीन आचार्यों के प्रति जगन्नाथ का आदर उतना नहीं रहा होगा जितना अपने समय में प्रचलित साहित्यशास्त्रीय मतों के विरोध के प्रति उनका संकोच । विश्वनाथ के काव्यलक्षण पर जगन्नाथ की टिप्पणी का सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न केवल रस, अपितु ध्वनि के भी महत्त्व पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रहार करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज अनेक अवसरों पर चमत्कार तत्त्व पर बल देते हुए उसे काव्य की आत्मा घोषित करते हैं । ऐसा करते हुए वे काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ध्वनि-प्रस्थान के स्थान पर एक नए प्रस्थान का सूत्रपात करते हैं जिसे हम रमणीयता-प्रस्थान अथवा चमत्कार-प्रस्थान कह सकते हैं । चमत्कार की इस अवधारणा का क्षेत्र व महत्त्व औचित्य की अवधारणा की भाँति विस्तृत और व्यापक है ।

पण्डितराज को यह श्रेय तो जाता ही है कि आनन्दवर्धन द्वारा सिद्धान्त-रूप में प्रतिष्ठित होने से पूर्व ध्वनि-मत की भांति, उनके सिद्धान्त का व्यवहार-पक्ष भी न केवल प्राचीन समय में अपितु आधुनिक समय में भी मान्य हुआ है; काव्य के भिन्न-भिन्न घटक तत्त्वों की प्रधानता या अप्रधानता का निर्णय करने में इससे बड़ी सहायता मिली है । इस प्रकार पण्डितराज ने चमत्कार अथवा रमणीयता के प्रीतिकर नेतृत्व में ध्वनि, अलंकार एवं रीति जैसे विभिन्न प्रस्थानों के बीच सुखद समन्वय स्थापित करने का अनूठा प्रयास किया है । संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनका यह अति महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

रीति

पण्डितराज से बहुत पहले वामन ने काव्य में रीति के महत्त्व पर बल देते हुए उसे काव्य की आत्मा घोषित किया था । ध्वनि-सिद्धान्त के उत्कर्ष के बाद रीति लगभग उपेक्षा के गर्त में विलीन हो चुकी है । आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे आचार्य रीतियों और उनके संघटक तत्त्वों —गुणों— की चर्चा अवश्य करते हैं किन्तु वे ध्वनि-सिद्धान्त के प्रचार में इतने तन्मय थे कि उन्होंने रीति को एक मामूली भूमिका में डाल दिया ।

रीति का अपना महत्त्व है । रीतिगत सज्जा से रहित मात्र ध्वनि आकर्षक नहीं हो सकती । आलंकारिकों में इसे लेकर गम्भीर विवाद रहा है कि दस गुण स्वीकार किये जाएँ या बीस अथवा, कि क्या अनेक गुणों को ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक तीन गुणों के अन्तर्गत संनिविष्ट किया जा सकता है । किन्तु पण्डितराज से पूर्व किसी ने भी तीन गुणों—जो विभिन्न रसों से संबद्ध हैं—अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद की व्यंजक विभिन्न रीतियों को लेकर इतने विस्तृत नियम नहीं बनाए । पदों और वर्णों की उपयुक्त रचना का नाम रीति है । अक्षरों और पदों की विवेकपूर्ण संनिधि से उत्पन्न होनेवाले ध्वनि-प्रभाव की उपेक्षा कर मात्र अर्थ की चिन्ता करना आत्म-पराजय की ओर ले जानेवाला है । रीति

की चर्चा करते हुए जगन्नाथ इस मुद्दे पर बल देते हैं । पण्डितराज का मानना है कि ओज और माधुर्य कुछ रसों के विशेष धर्म हैं जबकि प्रसाद सभी रसों में सामान्य है । इस प्रसंग में वे बड़े विश्वास से कहते हैं कि प्रसाद उनके द्वारा रचित प्रत्येक पद्य में देखा जा सकता है । एक निष्ठावान् कलाकार और समीक्षक होने के नाते वे रीति के संबन्ध में अपने बनाए हुए सभी नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं और इससे उनकी कविताओं में जो सौन्दर्य आया है उसे अनुवाद में उतारना संभव नहीं । किसी अन्य भाषा में निरा अर्थ संप्रेषित करने में भले ही सफलता मिले किन्तु किसी भी अनुवाद में संस्कृत अक्षरों के नाद को शब्दों में बाँधना संभव नहीं । हम बेझिझक कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनों पहलुओं में उनका रीति पर संपूर्ण प्रभुत्व है ।

संस्कृत कवियों में अपनी काव्य-रचनाओं द्वारा अपने काव्य-संबन्धी विचार व्यक्त करने की परम्परा रही है । जगन्नाथ ने तो अलंकार शास्त्र पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है, इसलिए उन्हें अपनी काव्य-विषयक दृष्टि को अपनी कविताओं में व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है । फिर भी काव्य के स्वरूप पर अपना दृष्टिकोण बतलाने के लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों का अनुसरण किया है ।

भामिनीविलास के **प्रास्ताविकविलास** में वे कहते हैं कि कटु वर्णों से रहित काव्य और भी सुन्दर हो जाता है । यह कटोर वर्णों का परिहार करनेवाले उन कटोर नियमों के अनुसार ही है जो उन्होंने **रसगंगाधर** में माधुर्य पर चर्चा करते हुए बनाए हैं ।

"सरोवर कीचड़ के बिना, सभा दुष्टों के बिना, काव्य कटु वर्णों के बिना और मन सांसारिक विषयों की आसक्ति के बिना सुशोभित होता है ।" (**भामिनीविलास, I-110**)

"कोई विरला ही मनुष्य काव्यों के मर्म तक पहुँच पाता है । भ्रमर को छोड़कर और कौन (भिन्न-भिन्न) पुष्पों के मधु का पारखी हो सकता है ?" (**भामिनीविलास, I-111**)

इस प्रकार पण्डितराज काव्य के रसास्वाद की सामर्थ्य को भी अति दुर्लभ गुण मानते हैं ।

अपनी परलोकवासिनी प्रिया के गुणों का वर्णन करते समय, ऐसा लगता है कि, पण्डितराज काव्य की एक समग्र परिभाषा प्रस्तुत करते हैं :

"मेरी कविता की भाँति मेरी प्रिया – जो दोषरहित (काव्यदोषों से मुक्त), गुणवती (माधुर्य आदि), अनुराग और विलास (रसों और भावों) से परिपूर्ण, आभूषणों से अलंकृत (अलंकारों से विभूषित) कानों को सुखद कण्टस्वर से युक्त (श्रुति-कोमल वर्णों से समृद्ध), और चित्त को आनन्द देनेवाली है - मेरे मन से निकलती नहीं है ।' (**करुणविलास -- 6**)

सामन्तों में आसफ़ खाँ की महानता का वर्णन करते हुए पण्डितराज काव्य और उसके कुछ पहलुओं की श्रेष्टता की ओर इंगित करते हैं :

"सम्राट के सभी सामन्तों में आसफ़ खाँ ऐसे थे जैसे साहित्य की अनेक विधाओं में काव्य, जैसे काव्यों में ध्वनि, जैसे ध्वनियों में रस और जैसे रसों में शृंगार । उनकी महिमा और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण सभी सहृदय (सुरुचिपूर्ण व्यक्ति) उनका समादर

(अथवा, रसास्वाद) करते थे ।" (आसफविलास, पृ. 84)

काव्य और उसके महत्त्व के विषय में ये जगन्नाथ के कुछ विचार हैं जो उन्होंने सरसरे तौर पर अपनी कुछ काव्य-कृतियों में व्यक्त किये हैं ।

काव्यहेतु

काव्यहेतु या काव्य का बीज अथवा 'कवि के उपकरण' का प्रश्न भामह से लेकर प्रायः सभी आलंकारिकों के बीच चर्चा का विषय रहा है । यह आक्षेप किया जाता रहा है कि भारतीय समालोचक की मुख्य चिन्ता किसी काव्य-कृति द्वारा पाठक या दर्शक के मानस पर छोड़े जानेवाले प्रभाव को लेकर है और काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि या कवि की मानसिक प्रक्रिया से उसका सरोकार न के बराबर है । किन्तु हम पाते हैं कि प्रत्येक आलंकारिक ने काव्यहेतु के लिए अपने ग्रन्थ में कुछ स्थान अवश्य रखा है जिसमें मुख्य रूप से काव्य के बीज और कवि के उपकरणों की चर्चा की गई है यद्यपि कवि के निजी व्यक्तित्व के विषय में वहाँ कुछ नहीं मिलता (जो तभी हो सकता है जब किसी विशेष कवि या उसके काव्य पर बात की जाए) । यह सब देखते हुए मानना पड़ता है कि हमारे आलंकारिक साहित्य-समीक्षा के इस पक्ष की महत्ता से भली भाँति अवगत थे ।

सभी आलंकारिक प्रतिभा, व्युत्पत्ति (विद्वत्ता) और अभ्यास, इन तीन गुणों को काव्यरचना में महत्त्वपूर्ण मानने पर एकमत हैं । उनका मतभेद केवल इस पर है कि प्रतिभा अन्य दो के ऊपर है, या सभी तीन गुण समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, अथवा अन्तिम दो गुण पहले के पूरक हैं । इस प्रकार हम आलंकारिकों को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं :

1. वे जो तीनों को समान महत्त्व देते हैं और तीनों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से काव्य का कारण मानते हैं;
2. वे जो अन्य दो को प्रतिभा का सहायक मानते हुए उन पर प्रतिभा की उत्कृष्टता को स्वीकार करते हैं; और
3. वे जो प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को मिलित रूप में काव्यहेतु मानते हैं ।

जगन्नाथ के अनुसार काव्य कहलाने योग्य कृति के सृजन में केवल प्रतिभा ही कारण है क्योंकि ऐसे उदाहरण हैं जहाँ व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना भी प्रतिभा संपन्न कवियों ने सुन्दर काव्य की रचना की है । अतः कितनी भी व्युत्पत्ति या अभ्यास का कोई उपयोग नहीं । किन्तु विशेष व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा को उत्पन्न कर सकते हैं जो अन्ततः काव्यसृजन की हेतु बनती है ।

जगन्नाथ की भाँति अन्य आलंकारिक भी केवल प्रतिभा को महत्त्व देते हैं । वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को केवल प्रतिभा के पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं । किन्तु केवल प्रतिभा को ही काव्यरचना का कारण घोषित करते हुए जगन्नाथ में दो प्रकार की

प्रतिभा को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है : अदृष्टजन्य (जो पूर्व जन्म के कर्मों या देवताओं अथवा महापुरुषों की कृपा जैसे अज्ञात कारणों से उत्पन्न होती है) और दृष्टज (व्युत्पत्ति और अभ्यास जैसे ज्ञात कारणों से उत्पन्न) । इस प्रकार वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को मात्र पूरक नहीं अपितु प्रतिभा के प्रत्यक्ष कारण के रूप में अधिक महत्त्व देते हैं । जगन्नाथ द्वारा प्रतिभा को प्रदत्त यह प्रतिष्ठा अद्वैतियों द्वारा ज्ञान को प्रदत्त प्रतिष्ठा के समकक्ष है । अद्वैतवादी केवल ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, जबकि कर्म और भक्ति ज्ञान की प्राप्ति के साधन मात्र हैं, उस मनुष्य के लिए जो इसे अदृष्ट के माध्यम से प्राप्त नहीं कर सका है ।

काव्य का वर्गीकरण

ध्वनि-सिद्धान्त (काव्य में व्यंग्यार्थ को प्रधानता देनेवाला सिद्धान्त) की स्थापना से पूर्व प्राचीन आलंकारिकों ने काव्य का जो वर्गीकरण किया था वह काव्य की वस्तु पर आधारित होने की अपेक्षा रूप और भाषा जैसे बाह्य तत्त्वों पर ही आधारित था । उदाहरण के लिए भामह ने काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

(क) पहले, रचनाभेद के आधार पर दो वर्गों में :
(1) गद्यकाव्य और (2) पद्यकाव्य ।

(ख) भाषा के आधार पर तीन वर्गों में : (1) संस्कृत, (2) प्राकृत, (3) अपभ्रंश ।

(ग) वस्तु के आधार पर चार वर्गों में : (1) वृत्तदेवादिचरितशंसी (देवताओं आदि की वास्तविक कथा का वर्णन), (2) उत्पाद्य वस्तु (कवि द्वारा स्वयं कल्पित कथा का वर्णन), (3) कलाश्रय (कलाओं से संबद्ध), और (4) शास्त्राश्रय (शास्त्रों से संबद्ध) ।

(घ) बनावट के आधार पर पाँच वर्गों में : (1) सर्गबन्ध (सर्गों में विभाजित महाकाव्य), (2) अभिनेयार्थ (नाटक), (3) व (4) आख्यायिका और कथा (गद्यकाव्य की विधाएँ) और (5) अनिबद्ध (जिसे मुक्तकों के नाम से जाना जाता है, स्वतंत्र पद्यों के संग्रह) ।

(काव्यालंकार, I.16-18)

भामह के अनुयायियों ने जहाँ-तहाँ मामूली परिवर्तनों के साथ वर्गीकरण की यही पद्धति अपनाई है ।

आनन्दवर्धन ने अपने युगप्रवर्तक ग्रन्थ **ध्वन्यालोक** के माध्यम से आलंकारिकों का ध्यान काव्य के आन्तरिक पक्ष की ओर खींचा है । वहाँ हम काव्य के एक भिन्न प्रकार के वर्गीकरण का नया आधार पाते हैं । आनन्दवर्धन ने कोई पृथक्-पृथक् शीर्षकों वाला

नया वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु इसके संकेत उनके ग्रन्थ में स्पष्ट हैं और मम्मट ने अपने **काव्यप्रकाश** में उन्हें एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत रखा है ।

ध्वनि नामक नये तत्त्व के आधार पर आनन्दवर्धन ने काव्य को तीन वर्गों में बाँटा हैं : (1) ध्वनि, (2) गुणीभूतव्यंग्य, और (3) चित्र ।

जब शब्द और अर्थ अप्रधान रह कर किसी नवीन अर्थ को व्यंजित करें तो वह ध्वनिकाव्य का उदाहरण है । गुणीभूतव्यंग्य वह काव्य है जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रति गौण हो, अर्थात वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुन्दर प्रतीत हो । जिस काव्य में शब्द और अर्थ के अलंकरण को अधिक महत्त्व दिया जाए वह चित्रकाव्य है ।

मम्मट ने आनन्दवर्धन द्वारा संकेतित वर्गीकरण का अनुसरण करते हुए ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम का नाम दिया है । उन्होंने चित्र को शब्दचित्र और अर्थचित्र नामक दो वर्गों में बाँटा है और चित्र उसे कहा है जहाँ अलंकार होते हैं और व्यंग्यार्थ नगण्य होता है । मम्मट के इस काव्य-वर्गीकरण का प्रायः सभी परवर्ती आलंकारिकों ने शब्दशः अनुकरण किया है ।

पण्डितराज का विवेचनापरक मानस मम्मट के वर्गीकरण से संतुष्ट नहीं है जो कि कुछ मामलों में आनन्दवर्धन के विरुद्ध है । वे सर्वथा अपने काव्य-लक्षण पर दृढ़ हैं और चमत्कार (लोकोत्तर आनन्द) को ही काव्य और उसमें व्यंग्यार्थ की उत्कृष्टता या अधमता की कसौटी मानते हैं । आनन्दवर्धन और अभिवनगुप्त ने ठीक ही कहा है कि ऐसे काव्य जहाँ गुणीभूतव्यंग्य का सौन्दर्य कथमपि कम नहीं है, संख्या में ध्वनि-काव्यों से अधिक हैं **(धन्या., पृ. 463, लोचन, पृ. 462)** । यह स्पष्ट करते हुए, कि गुणीभूतव्यंग्य भी चमत्कार का कारण हो सकता है, पण्डितराज ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है । वे कहते है कि अन्य अर्थ के प्रति अप्रधान होने पर भी गुणीभूतव्यंग्य दुर्दैववश दास्य का अनुभव करती हुई रानी के समान एक विशेष आकर्षण लिये हुए होता है (र.ग., पृ. 21) । इस उदाहरण से यह तो स्पष्ट होता है कि ऐसे प्रसंगविशेष में व्यंग्य को अपना उचित स्थान नहीं मिल सका है किन्तु यह चमत्कार का कारण कैसे है, यह इससे पता नहीं चलता । इसी प्रकार के संदर्भ में, आनन्दवर्धन द्वारा दिया गया औपम्य गुणीभूतव्यंग्य से उत्पन्न चमत्कार को उच्चतम स्थान प्रदान करता है । वे गुणीभूतव्यंग्य की तुलना, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रति गौण हो जाता है, उस राजा के साथ करते है जो बारात में अपने सेवक के पीछे-पीछे चलता है । वस्तुतः ऐसे अवसरों पर राजा अधिक भव्य प्रतीत होता है । इससे यह संकेत मिल जाता है कि सहृदय को कैसे गुणीभूतव्यंग्य में भी उत्कृष्ट चमत्कार प्राप्त हो सकता है । अतः हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते है कि आनन्दवर्धन इसे मध्यम और ध्वनि को उत्तम काव्य कहने का अनुमोदन करते । गुणीभूतव्यंग्य को आमतौर पर मिले समर्थन को देखकर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि आनन्दवर्धन को ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के बीच इतनी विषमता अभीष्ट नहीं रही होगी कि वे एक को उत्तम और दूसरे को मध्यम कहते । इसलिए वे बड़ी चतुराई से उन्हें अपने स्वरूप के अनुसार

ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य के नाम देते हैं और इससे आगे अपने आपको प्रतिबद्ध नहीं करते ।

आनन्दवर्धन की जो भी धारणा रही हो, जगन्नाथ यह अनुभव करते थे कि गुणीभूतव्यंग्य जैसे लोकप्रिय काव्यभेद को 'उत्तम' से नीचे की कोटि में रखना उचित नहीं । किन्तु ध्वनि-काव्य की परम्परागत श्रेष्टता को बनाये रखने के लिए उन्होंने उसे उत्तमोत्तम कह कर पुकारा । एक और प्रश्न उनके लिए विशेष महत्त्व रखता है । वे इस बात के विरुद्ध हैं कि समासोक्ति और पर्यायोक्ति सहित सभी अर्थालंकारों को अन्धाधुन्ध चित्रकाव्य के अन्तर्गत रखते हुए 'अधम' कह दिया जाए, बिना इस बात की चिन्ता किये कि उनमें सदैव कुछ रमणीय व्यंग्य होता ही है भले ही वह गुणीभूत हो ।

इस प्रकार पण्डितराज के मत में काव्य के चार भेद हैं – 1. उत्तमोत्तम, 2. उत्तम, 3. मध्यम, और 4. अधम ।

उत्तमोत्तम वह काव्य है जहाँ शब्द और अर्थ अप्रधान रह कर किसी चमत्कारक अर्थ को व्यंजित करते हैं ।

जिस काव्य में व्यंग्य चमत्कारक तो हो किन्तु शब्द या अर्थ अथवा दोनों के प्रति गौण हो, वह उत्तम है ।

मध्यम काव्य वह है जहाँ वाच्यार्थ ही चमत्कार का कारण होता है जबकि अस्फुट व्यंग्य भी उपस्थित रह सकता है । उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त सभी काव्य इस कोटि में आते हैं । इस प्रकार, मम्मट की भाँति सभी अर्थालंकारों को 'अधम' कोटि में रखने के स्थान पर, पण्डितराज उनमें से कुछ (समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि) को, जहाँ अप्रधान व्यंग्यार्थ स्फुट है, उत्तम काव्य में रखते हैं और अन्य (उत्प्रेक्षा, उपमा आदि) को, जहां अप्रधान व्यंग्यार्थ अस्फुट है, मध्यम काव्य में रखते हैं; इनमें किसी को भी वे अधम काव्य में नहीं रखते । इस प्रकार अलंकारों को पण्डितराज से पूरा-पूरा न्याय मिल सका है, जिसे वे मम्मट और विश्वनाथ जैसे उनके पूर्ववर्तियों से प्राप्त करने में असफल रहे थे ।

मम्मट ने बिना सोचे-समझे सभी अर्थचित्रों और शब्दचित्रों को अधम काव्य का नाम दे दिया था । पण्डितराज ऐसे वर्गीकरण को सर्वथा अनुचित समझते हुए अधम काव्य उसे कहते हैं जहाँ अर्थ के सौन्दर्य से परिष्कृत हुआ शब्द का सौन्दर्य ही महत्त्व पाता है (र .ग., पृ. 23) । अर्थचमत्कार से रहित मात्रा शब्द चमत्कार वाली रचनाएँ तो उनके मत में काव्य ही नहीं कहला सकतीं क्योंकि वे, "अलौकिक सौन्दर्य वाले (रमणीय) अर्थ के प्रतिपादक शब्द काव्य हैं", इस काव्यलक्षण को ही पूरा नहीं कर पातीं ।

काव्य की अपनी व्यापक परिभाषा और उसके वर्गीकरण के माध्यम से जगन्नाथ ने काव्य की अवधारणा को यह नया मोड़ दिया है ।

रस

साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में रस भारतीय आलंकारिकों की एक महत्त्वपूर्ण देन है । भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अन्यान्य दार्शनिक अवधारणाओं के आधार पर भरत के सीधे-सादे रसलक्षण — विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः [विभावों (आलम्बन एवं उद्दीपकों के रूप में रति आदि के उद्बोधकों) अनुभावों (भावात्मक प्रतिक्रियाओं) और व्याभिचारी भावों (आकस्मिक चित्तवृत्तियों) के (स्थायी भावों के साथ) संयोग से रस उत्पन्न होता है] — की अनेक प्रकार से व्याख्या की है । भरतकृत नाट्यशास्त्र और आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक के महान् टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपने सभी पूर्ववर्तियों की व्याख्याओं का खण्डन करते हुए अपनी एक अलग व्याख्या प्रस्तुत की जिसे सार्वत्रिक स्वीकृति प्राप्त हुई है । पण्डितराज ने रस पर पूर्ववर्तियों के मतों को दुहराते हुए अभिनवगुप्त के मत को प्रधानता दी है ।

जगन्नाथ के प्रस्तुतीकरण के अनुसार अभिनवगुप्त का मत इस प्रकार है :

सुन्दर काव्य के माध्यम से सहृदय के समक्ष प्रस्तुत विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव उसके सहृदयत्व और भावना (कल्पना) के कारण अपने व्यष्टिपरक स्वरूप को खो कर साधारणीकृत हो जाते हैं । विभाव आदि के एक साथ मिलने पर व्यञ्जना नामक एक विशिष्ट अलौकिक व्यापार का प्रादुर्भाव होता है । यह व्यापार सामाजिक के आनन्दांश को आवृत करनेवाले अज्ञान के आवरण को हटा देता है जिससे वह अपनी वैयक्तिकता, और ज्ञान की सीमाओं आदि को खो देता है । इस अवस्था में वह अपने स्वरूप-आनन्द के साथ-साथ रति आदि स्थायी भावों का आस्वाद लेता है और इस प्रकार स्वरूपानन्द के साथ आस्वादित ये रति आदि रस कहलाते हैं । पण्डितराज इस प्रसंग में पात्र से ढँके हुए दीपंक का दृष्टान्त देते हैं जो वेदान्तियों के लिए सुपरिचित है । पात्र हटा लेने पर दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है । इसी प्रकार, आत्मचैतन्य भी स्वयं प्रकाशित होता हुआ विभावादि से संवलित रति आदि को प्रकाशित करता है क्योंकि वेदान्तियों के अनुसार, अन्तःकरण के सभी धर्म, सुख-दुःख आदि, साक्षिभास्य हैं; अर्थात् समस्त बाह्य पदार्थ आत्मा के द्वारा अन्तःकरण के माध्यम से प्रकाशित होते हैं जबकि अन्तःकरण के धर्म सीधे आत्मा द्वारा ही प्रकाशित होते हैं ।

पण्डितराज 'नव्यास्तु' और 'अपरे तु' कहकर दो और मतों का उल्लेख करते हैं । कहा नहीं जा सकता कि वे यहाँ किसका मत प्रस्तुत कर रहे हैं । संभवतः वे स्वयं पण्डितराज के उर्वर मस्तिष्क की उपज हैं जिन्हें वे अभिनवगुप्त के प्रायः सर्व-स्वीकृत मत के रहते हुए स्पष्टतः सामने रखने में झिझकते थे, यद्यपि भीतर-ही-भीतर वे इनमें से किसी एक के प्रति, और शायद पहले के प्रति, झुकाव रखते रहे होंगे ।

पहला मत भी वेदान्त पर आधारित है । दृष्टिदोष अथवा मन्द प्रकाश जैसे दोषों के कारण मनुष्य को सीप के टुकड़े में चाँदी की भ्रान्ति होती है । कोई भी ज्ञान तब तक

उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक पहले उसका विषय विद्यमान न हो । अतः वेदान्ती यह मानते हैं कि पूर्वोक्त दोषों के कारण सीप में एक विशेष प्रकार की चाँदी उत्पन्न होती है जिसे शास्त्रीय भाषा में प्रातिभासिक कहते हैं । यह चाँदी सत् नहीं है क्योंकि इससे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, और असत् भी नहीं है क्योंकि प्रमाता वस्तुतः इस क्षण में इसे देख रहा है, अतः यह अपरिभाष्य (अनिर्वचनीय) है ।

इसी सिद्धान्त को लागू करते हुए, आलोच्य मत में रति आदि से अभिन्न रस भी अनिर्वचनीय है । कवि या नट द्वारा विभाव आदि की उपस्थापना किये जाने पर, शब्दों के व्यञ्जना-व्यापार के कारण सहृदय दुष्यन्तादि से जुड़ी हुई शकुन्तलादिविषयक रति को ग्रहण करता है । सहृदयता के कारण दर्शक में भावना (कल्पनाशीलता) होती है जो एक प्रकार का दोष है । यह भावना उसमें दुष्यन्तादि के साथ अभेदबुद्धि उत्पन्न करती है जिसके कारण उसमें शकुन्तलादिविषयक रति उत्पन्न हो जाती है । यह रति आदि अन्य सभी प्रातिभासिकों की ही भाँति साक्षिभास्य है अर्थात् चैतन्य के साथ सीधे संपर्क द्वारा ग्राह्य है, और इस अवस्था में इसे रस कहा जाता है । रति आदि के इस ज्ञान के तुरन्त बाद एक विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द का अनुभव होता है जिसे भ्रान्तिवश रति के ज्ञान से अभिन्न समझ लिया जाता है और इसलिए रस को सुख-रूप कहा जाता है । इसे ठीक-ठीक व्यंग्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यंग्य तो वस्तुतः दुष्यन्तादि की रति आदि ही हैं; किन्तु उनसे अभिन्न रूप में गृहीत होने के कारण रस को भी व्यंग्य कह दिया जाता है ।

रति आदि की ही भाँति सहृदय द्वारा स्वयं पर आरोपित दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय है और वह उसकी वास्तविकता को आच्छादित कर लेता है । यह भी उसमें निहित भावकत्व नामक दोष का परिणाम है । नव्यों का कहना है कि सहृदय में इस दोष की उपस्थिति स्वीकार करना अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना विभाव आदि के साधारणीकरण का औचित्य नहीं ठहराया जा सकता । एक बार इसे मान लेने पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि इसी दोष के कारण सहृदय स्वयं को दुष्यन्तादि से अभिन्न मान बैठता है ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है — स्वभावतः सुखद होने के कारण रति जैसे कुछ स्थायी भाव तो पूर्वोक्त प्रक्रिया से सहृदय में उत्पन्न होने पर उसमें सुख उत्पन्न कर सकते हैं । किन्तु शोक जैसे स्थायी भाव सामान्य जगत् में तो स्वभावतः दुःख के कारण होते हैं किन्तु काव्य में आह्लादकर माने जाते हैं; उनके विषय में यह बात कैसे ठीक हो सकती है ? इस आपत्ति का समाधान इस प्रकार किया जाता है : यदि करुणरसप्रधान काव्यों से भी सहृदयों को सुखप्राप्ति का अनुभव होता है तो यह मानना होगा कि काव्य का वही व्यापार सुख का प्रयोजक होने के साथ-साथ दुःख का प्रतिबन्धक भी है और यदि सुख की भाँति दुःख की प्राप्ति भी अनुभव से सिद्ध होती है तो हमें मानना चाहिए कि रस में सुख और दुःख दोनों स्वाभाविक हैं । फिर भी इन कृतियों के प्रति लोगों की प्रवृत्ति इसलिए होती है कि दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक है ।

'अपरे तु' के अन्तर्गत विवेचित दूसरा मत भी, भ्रान्ति के स्वरूप की व्याख्या में कुछ प्रक्रियागत भेदों को छोड़कर, इससे मिलता-जुलता है ।

कुछ आलोचक यह सुनकर चौंक जाते हैं कि रस भ्रान्तिज्ञान का परिणाम है । किन्तु इस मत को सर्वथा निराधार कह कर नहीं हटाया जा सकता । पण्डितराज भी इस मत के पक्ष में हैं, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि उन्होंने **रसगंगाधर** में 'नव्यास्तु' शीर्षक के अन्तर्गत जिन मतों की उपस्थापना की है वे सभी प्रायः उनके द्वारा अनुमोदित हैं ।

रसविषयक सभी सिद्धान्तों के प्रवक्ता प्रक्रियागत भेदों के बावज़ूद यह मानने में एकमत हैं कि रस में ज्ञान अपेक्षित है । ज्ञान प्रमा (यथार्थ ज्ञान) है या भ्रम, इसका निश्चय ज्ञान के विषय की प्रकृति से होता है, स्वयं ज्ञान से नहीं । ज्ञान के विषय की सत्ता या उसके अभाव से निरपेक्ष ज्ञान का अस्तित्व है यह निर्विवाद है, भले ही वह ज्ञान प्रमा हो या भ्रम । ज्ञान यथार्थ सत्ता वाले पदार्थों का भी हो सकता है और मिथ्या पदार्थों का भी । इसलिए इस संभावना को सर्वथा अनदेखा नहीं किया जा सकता कि रस भी भ्रान्तिज्ञान, अथवा भ्रान्तिज्ञान का परिणाम, हो सकता है क्योंकि यह उन पदार्थों से उत्पन्न होता है जो प्रस्तुत होते समय यथार्थतः असत् हैं । आख़िरकार प्लेटो का यह कथन बिल्कुल सच है कि कला का विषय सत्य से दुगुनी दूरी पर है । यह प्रश्न अलग है कि उनके द्वारा इस आधार पर कला का तिरस्कार कहाँ तक उचित है । परिहास में ही सही, महान् नाटककार शेक्सपियर कवि को एक पागल और एक भावाविष्ट प्रेमी के साथ रखते हैं (**ए मिडनाइट समर्'स ड्रीम**, अंक पाँच, दृश्य एक) और इस प्रकार स्पष्टतया व्यञ्जित करते हैं कि कवि का कर्म भ्रम (भ्रान्तिज्ञान) उत्पन्न करनेवाला है, यद्यपि वह शायद सुखद भ्रम होता है ।

कुछ आलोचकों ने आपत्ति की है कि यदि रस का आस्वाद भ्रान्तिज्ञान है तो कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इसकी इच्छा नहीं करेगा । किन्तु बुद्धिमान् व्यक्तियों में यदि इसके प्रति आकर्षण हो तो इसमें कुछ भी ग़लत नहीं है क्योंकि इससे वे निश्चित रूप से एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त करते हैं । केवल इसलिए कि यह भ्रान्तिज्ञान है, हम इसमें आनन्द या सुख-दुःख के मिश्रण (जो भी वस्तुस्थिति हो) के अस्तित्व को नहीं नकार सकते और यही सहृदय को नाटक या किसी अन्य प्रकार की काव्यकृति की ओर प्रेरित करता है । आम तौर पर लोगों में नितान्त अस्वाभाविक लड़ाई के दृश्यों की-भरमार-वाली फ़िल्मों को देखने का शौक़ उन्माद की हद तक पाया जाता है और जासूसी उपन्यासों को पढ़ने का भी, जिन्हें हम अपनी शास्त्रीय भाषा में अद्भुत रस का उद्गम कह सकते हैं । इस उन्माद के पीछे भी यही कारण है ।

यह कहना कठिन है कि आलंकारिकों द्वारा रसास्वाद के प्रसंग में ब्रह्मानन्दास्वाद की प्रक्रिया (आवरणभंग – अज्ञान के आवरण का निराकरण) लागू करना कहाँ तक न्यायसंगत है; केवल इस आधार पर कि वे इसे अलौकिक कहते हैं । आत्मज्ञान का संबन्ध तो सीधे ब्रह्म से है जो स्वयं आनन्द-स्वरूप है और इसलिए उपनिषदों के प्रामाण्य

पर वहाँ आवरणभंग की प्रक्रिया स्वीकार्य हो सकती है, किन्तु रसास्वाद के प्रसंग में ऐसी प्रक्रिया कैसे मानी जा सकती है । यदि प्रश्न मात्र इतना है कि इस क्षेत्र में भी दार्शनिक प्रक्रियाओं का समावेश कर लिया जाए तब तो कोई भोजनभट्ट भी ऐसे आस्वाद की बात कर सकता है जो ब्रह्मानन्दास्वाद का सहोदर है और किसी स्वादिष्ट पकवान में अलग-अलग मसालों के विलक्षण एवं सुविहित मिश्रण से उत्पन्न हुआ है । इसलिए, उपनिषदों जैसे प्रबल प्रमाण के अभाव में, ऐसी प्रक्रिया की बात करना सौन्दर्यबोधपरक आनन्द के सीधे-सादे सिद्धान्त को अनावश्यक रूप से बोझिल बनाना है । यह एक विलक्षण आनन्द हो सकता है किन्तु यह विलक्षणता इस सारी प्रक्रिया को मानने का औचित्य सिद्ध नहीं करती ।

और यदि आलंकारिक इतने ही सटीक होना चाहते हैं तो रस-निष्पत्ति को भ्रान्तिज्ञान, बल्कि भ्रान्तिज्ञान का परिणाम, मानने पर भी वे संपूर्ण प्रक्रिया को स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि वेदान्तियों के मत में ब्रह्मज्ञान की ओर ले जानेवाली समस्त प्रक्रिया मिथ्या है । उनके अनुसार असत्य उपायों के माध्यम से भी सत्य को पाया जा सकता है । इसलिए यदि भ्रान्तिरूप रसास्वाद को आनन्दानुभव की प्राप्ति करानेवाला, बल्कि यों कहें कि स्वयम् आनन्दानुभव ही माना जाए, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

संभवतः यही सब ध्यान में रख कर पण्डितराज ने अपने अभिमत इस सिद्धान्त को उपस्थापित किया है । अपने ग्रन्थ का नाम **रसगंगाधर** भी उन्होंने इसलिए रखा है क्योंकि वे समझते हैं कि उन्होंने, अभिनवगुप्त और अन्य आचार्यों के सुप्रतिष्ठित मतों के रहते हुए भी, रस-सिद्धान्त को पहली बार नया मोड़ दिया है । अभिनवगुप्त के मत को सार-रूप में प्रस्तुत करनेवाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ पण्डितराज किसी मौलिकता का दावा नहीं कर सकते ।

चार

गंगालहरी

जो पद्य पूर्वापर की अपेक्षा किये बिना अपने आप में ही पूर्ण हो, उसे मुक्तक कहते हैं । साहित्यिक विधा के रूप में मुक्तक का महत्त्व आलंकारिकों के बीच मतभेद का विषय रहा है । वामन के अनुसार साहित्यिक विधा के रूप में प्रबन्ध (रघुवंश आदि महाकाव्य) ही महत्त्वपूर्ण है जबकि मुक्तक अन्ततः कवि को प्रबन्ध-लेखन की तैयारी करने में सहायक है । वे समझते हैं कि अग्नि के एकाकी कण की भाँति, जो न तो प्रकाश दे सकता है न ही ताप, मुक्तक मनोहर नहीं हो सकता (**काव्यालंकारसूत्र I.28,29**) ।

यह वामन का निजी मत ही माना जा सकता है और तुकबन्दी करनेवालों के कुछ मुक्तकों के संदर्भ में आंशिक रूप से ही सत्य है । क्योंकि समर्थ कवि की लेखनी से निकला हुआ एक मुक्तक भी अलौकिक आनन्द का स्रोत हो सकता है और इसमें उदाहरणों की कोई कमी नहीं है । **गाथासप्तशती** के अनेक पद्य आलंकारिकों द्वारा ध्वनि और रस के विभिन्न प्रकारों के प्रसंग में उदाहृत हैं और वे सब मुक्तक ही हैं । साहित्यिक क्षेत्रों में यह तथ्य सुविदित है कि **अमरुशतक**, भर्तृहरि के शतकों और नीलकण्ठ दीक्षित की लघु रचनाओं में प्रत्येक पद्य अत्यन्त सुन्दर और हृदयस्पर्शी है ।

शायद वामन के उत्तर में ही आनन्दवर्धन ने कहा कि प्रबन्धों की भाँति मुक्तकों में भी रसनिर्वाह के प्रति अत्यन्त सावधान रहनेवाले कवि देखे जाते हैं । इसी प्रसंग में वे यह भी कहते हैं कि अमरुक के श्रृंगार रस से आप्लावित मुक्तक प्रबन्धों की बराबरी करते हैं (**ध्वन्यालोक III . 7**) ।

आनन्दवर्धन का यह कथन पण्डितराज के मुक्तकों के बारे में भी सही ठहरता है, क्योंकि पण्डितराज का प्रत्येक श्लोक रस, भाव या अलंकार अथवा वाच्यार्थ के कारण मनोहर है जबकि प्रासादिक शैली का सौन्दर्य उनकी सभी रचनाओं का समान गुण है । इसीलिए वे अपने प्रत्येक श्लोक को काव्य कहते हैं; उनका प्रत्येक श्लोक उनके काव्यलक्षण, 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्', पर खरा उतरता है ।

पण्डितराज की जो भी काव्यकृतियाँ हमें प्राप्त हुई हैं वे सभी मुक्तक संग्रह ही हैं । **आसफविलास** भी, जो शायद चम्पूकाव्य रहा होगा, अपूर्ण ही उपलब्ध है । उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत अपने श्लोक 'तल्पगतापि च सुतनुः' को स्पष्ट करते हुए पण्डितराज कहते हैं कि यह श्लोक उनके प्रबन्ध से उदाहृत है और इसलिए इसका सही अर्थ पूर्व प्रकरण को जानकर ही समझा जा सकता है (**र. ग., पृ. 14**) । इस उक्ति से और **रसगंगाधर** में उदाहृत दो गद्यांशों से यह अनुमान किया जा सकता है कि पण्डितराज ने एक या दो प्रबन्ध भी लिखे थे जो संप्रति अनुपलब्ध हैं ।

गंगालहरी पण्डितराज की पाँच लहरियों में से एक है । पण्डितराज के अनुसार ये

पाँच लहरियाँ भाव, अर्थात् देवादिविषयक रति, की व्यञ्जना करनेवाले प्रबन्ध हैं (र .ग, पृ. 134) । हम नहीं कह सकते कि पण्डितराज द्वारा उन्हें प्रबन्ध कहना कैसे उचित है जबकि उनमें प्रत्येक श्लोक पूर्व या उत्तर श्लोक की अपेक्षा किये बिना स्वतःपूर्ण है । एकमात्र संभावित औचित्य यही हो सकता है कि प्रत्येक लहरी के सभी श्लोक एक विशेष देव या देवी की स्तुति में हैं और इसलिए वे सब एक प्रबन्ध के रूप में देखे जाने चाहिए ।.

53 श्लोकों में निर्मित **गंगालहरी** पवित्र गंगा नदी की स्तुति में है । **गंगालहरी** का शाब्दिक अर्थ है 'गंगा की लहर' । गंगा की तरंग की भांति रमणीय और पावन होने के कारण ही इसे यह नाम दिया गया है ।

प्रथम श्लोक में कवि गंगा से अनुग्रह की याचना करता है :

"यह जल सकल विश्व का प्रचुर सौभाग्य है, लीला मात्र से जगत् को उत्पन्न करने वाले भगवान् शिव का अवर्णनीय ऐश्वर्य है और सभी श्रुतियों का सार है; हे गंगा, अमृत -सा सुन्दर तुम्हारा यह जल हमारे पापों को भंग करे ।"[7]

प्रत्येक भारतीय का यह दृढ़ विश्वास है कि गंगा के दर्शन मात्र से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है, और गंगा में स्नान करनेवाले को तो स्वर्ग की प्राप्ति सुनिश्चित है । प्रत्येक आस्तिक इस भाव के निम्नलिखित श्लोकों का उच्चारण करता है :

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ।।
अम्ब त्वद्दर्शनान्मुक्तिः न जाने स्नानजं फलम् ।
स्वर्गारोहणसोपानमहापुण्यतरंगिणी ।।

यह भाव पण्डितराज ने अतिशयोक्ति अलंकार के माध्यम से वर्णित किया है :

"प्रभात में स्नान करती हुई राजरानियों के वक्ष पर लगी हुई कस्तूरी जैसे ही तुम्हारे जल को छूती है, उसी क्षण कस्तूरी मृग सुन्दर रूप धारण कर सैकड़ों देवदूतों से घिरे हुए, स्वर्ग के नन्दन उद्यान में प्रवेश करते हैं ।" (श्लोक सं० 7)[8]

शांकर अद्वैत में अटल निष्ठा रखनेवाला हमारा कवि गंगा में परब्रह्म के दर्शन करता है :

" हे सुरनदी, सारे वेद जिसका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकते, जो मन और वाणी की पहुँच से परे है, वह निराकार, नित्य, शुद्ध, अविद्यानाशक परम सत् तुम्हीं तो हो । इसलिए तुम ज्ञान का विषय नहीं हो सकतीं ।" (श्लोक10)

शिव द्वारा अपनी जटाओं के वीच गंगा को रोककर बन्दी बना लेने की व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है :

"ओ माँ, जगत् के दुःख हरने के लिए स्वर्ग से उतरती हुई तुमको शिव ने अपने जटाजूट की गाँठ में बाँध लिया; इसमें दोष वस्तुतः तुम्हारे गुणों का है जो निर्लोभ जनों के हृदय में भी लोभ उत्पन्न करते हैं ।" (श्लोक 14)[9]

एक अन्य श्लोक में कवि अनन्वय अलंकार का प्रयोग करते हुए, जहाँ किसी पदार्थ की तुलना अपने आपसे ही हो सकती है, गंगा की महिमा का वर्णन करता है :

"जघन्य पाप कर चुकने पर भी पश्चात्ताप से ग्रस्त जनों को पवित्र करने में समर्थ अनेक तीर्थ त्रिभुवन में विद्यमान हैं । किन्तु प्रायश्चित्त की सीमा से भी परे जिनके पाप हैं, ऐसे मनुष्यों को स्वीकार करने और उनका उद्धार करने में तुम तुम्हारी तरह ही हो ।" (श्लोक 17)

कवि को पूरा विश्वास है कि यह पवित्र नदी अकेले ही जगत् की रक्षा करने में सक्षम है :

"ब्रह्मा सदा समाधि में बैठे रहें, विष्णु सुखपूर्वक शेषशय्या पर सोये रहें, शिव अनवरत नृत्य करते रहें; जब समस्त कामनाओं की पूर्ति करनेवाली आप जाग्रत हैं तो प्रायश्चित्त, तप, दान या यज्ञ की भी कोई आवश्यकता नहीं ।" (श्लोक 23)[10]

घोर पापी का भी उद्धार करने की गंगा की असीम क्षमता का वर्णन कवि ने बड़ी सुन्दरता से किया है :

"अनुद्धार्य पापी का उद्धार कर जगत् को विस्मय से भर दूँ, आदिकाल से संचित तुम्हारी इस अभिलाषा को पूरा करने, हे अम्ब, लो मैं आ पहुँचा ।" (श्लोक 30)[11]

कवि सोचता है कि उसने अपना सारा जीवन पापकर्मों में बिता दिया । किन्तु उसे विश्वास है कि पावन गंगा अवश्य उसका परित्राण करेगी ।

"दूसरों की सेवा करते हुए मैंने कुत्ते की वृत्ति अपनाई, मैं निरर्थक कुतर्क और बकवाद में ही लगा रहा, मैंने निरन्तर दूसरों की चुग़लखोरी में ही मन लगाया । मेरे इन गुणों को सुनकर, तुम्हारे अतिरिक्त और कौन मेरे मुख को देखना भी पसन्द करेगा ?" (श्लोक 31)[12]

कवि पूर्णतः आश्वस्त है कि पावन गंगा उसके ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के क्षेम की देखभाल करेगी :

"कुछ लोग इहलौकिक उपकरण जोड़ने में व्यस्त हैं, अन्य उदात्तमना व्यक्ति परलोक के प्रेम में डूबे हैं, किन्तु तुम्हारी करुणा से आश्वस्त यह जगन्नाथ दोनों लोकों का भार तुम पर छोड़ कर आनन्दपूर्वक सोता है ।" (श्लोक 36)[13]

भक्त को एक बार विश्वास हो जाए कि भगवान् उसे त्यागेंगे नहीं तो वह उनसे तर्क करने लगता है । जगन्नाथ भी इसी मनोदशा में बात कर रहे हैं :

"तुम व्रात्य, पतित, नीच और पाखण्डियों की भीड़ का उद्धार करनेवाली अपनी कृपा के प्रवाह को तोड़ने में असमर्थ हो, मैं पाप कर्मों के लिए अपनी लालसा का प्रवाह रोकने में असमर्थ हूँ । इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने स्वभाव को लाँघना दुष्कर है ।" (श्लोक 37)[14]

कवि की भावना है कि गंगा माँ है और वह उसका बालक :

" ओ माँ! तुम्हारा पय (दूध, जल) पीकर मैं अपने मूर्ख साथियों के साथ खेलने चला गया । कहीं भी मुझे विश्रान्ति न मिल सकी । अनिद्राग्रस्त अपने इस पुत्र को मन्द

पवन के संचार से शीतल अपनी गोद में चिरकाल तक सुला लो ।" (श्लोक 46)[15]

जीवनी संबन्धी संकेत देनेवाले निम्नलिखित श्लोक में कवि अपने अक्षम्य पापों के विषय में पूरी तरह अवगत है और अपने उद्धार के लिए गंगा से विशेष सावधानी रखने का आग्रह करता है :

"हे सुरनदी, अपनी कमर कस लीजिये । अर्द्धचन्द्र को मुकुट में सर्पों द्वारा बाँध लीजिये । साधारण जन समझ कर आराम से न बैठिये, यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है ।" (श्लोक 47, देखें पादटिप्पण 5)

किसी भी आस्तिक के लिए नदी केवल बहता हुआ जल नहीं है । वह तो केवल बाह्य रूप है । प्रत्येक नदी का एक दिव्य स्वरूप है जिसका भक्तजन भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार से ध्यान करते हैं । एक आगमशास्त्र के अनुसार, पावन गंगा नदी का ध्यान मकर पर आसीन चार हाथों में पाश, अंकुश, वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण करनेवाली अरुणिम आभा से दीप्त देवी के रूप में किया जा सकता है :

पाशांकुशवराभीतीर्दधानामरुणप्रभाम् ।
ग्राहारूढामहं वन्दे गंगा सर्वसरिद्वराम् ।।

किन्तु जगन्नाथ गंगा का वर्णन भिन्न रूप में करते हैं :

"श्वेत मकर पर आसीन, शशिकला की शुभ्रता से धवलित मुकुट धारण किये हुए, हाथों में कलश, पद्म एवं वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण किये हुए, स्वर्ग-सुधा जैसे शुभ्र वस्त्राभूषणों से अलंकृत, शरच्चन्द्र के समान श्वेत तुम्हारे विग्रह का जो ध्यान करते हैं, वे सदैव अपराजित रहते हैं ।" (श्लोक 48)

पाँच

अमृतलहरी

यमुना नदी की स्तुति में रचित **अमृतलहरी** ग्यारह श्लोकों का छोटा-सा काव्य है । जगन्नाथ ने मथुरा और दिल्ली में यमुनातट पर अनेक वर्ष व्यतीत किये थे । साथ ही, वे कृष्ण के भक्त भी थे जिनका यमुना से संबन्ध सुविदित है । इस नाते जगन्नाथ की यमुना के प्रति प्रबल श्रद्धा है जो इस लघुकाव्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है ।

यह नितान्त स्वाभाविक है कि जगन्नाथ की-सी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाला मनुष्य, कम-से-कम कुछ अवसरों पर, राजदरबारों की आडम्बरपूर्ण चमक-दमक से विरक्ति का अनुभव करे । आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले किसी भी व्यक्ति को यह चमक-दमक अन्ततः एकदम खोखली और निरर्थक लगेगी ही । कभी ऐसी ही खिन्न मनःस्थिति में जगन्नाथ यमुना को संबोधित कर कहते हैं :

"बहते हुए मद से अन्धे विशाल गजों के कपोलों पर गुनगुनाते हुए भ्रमरों से मुखरित राजद्वारों को अलविदा । अब तो फल-मूल से समृद्ध तुम्हारे किनारों पर प्रशस्य मुनि-वृत्ति अपना कर मेरा जीवन बीते ।" (श्लोक 3)[16]

यमुना में स्नान करने वाले पुण्यार्थी हरि और हर के संयुक्त रूप हरिहर से रारूप्य पा लेते हैं । कवि इसका कारण बतलाता है :

"नीचे मोतियों के ढेर-सा, और तल पर इन्द्रनील मणि-सा चमकता तुम्हारा जल मानों अपने युगल रूप के कारण तुम्हारे भीतर चूडान्त डूबकर स्नान करनेवालों की देहों को हरिहर के रूप में परिणत कर देता है । करुणामयी माँ ! तुम्हारा यह जल मुझ पर आनंद की वर्षा करे ।" (श्लोक 4)[17]

करुणालहरी

शंकराद्वैत के अनुयायी होने के कारण पण्डितराज सभी देवताओं के प्रति समान भक्ति दिखलाते हैं । किन्तु उनकी कृतियों के सूक्ष्म निरीक्षण से शिव की अपेक्षा विष्णु के प्रति उनका झुकाव अधिक प्रतीत होता है । कुछ विद्वान् उन्हें महान् वल्लभाचार्य का दौहित्र मानते हैं । यदि यह सही हो तो यह स्वाभाविक है कि जगन्नाथ अपने नाना की कृष्णभक्ति से प्रभावित हुए हों यद्यपि चरम सिद्धान्त के रूप में उनका विश्वास शंकराद्वैत में था ।

भगवान् विष्णु की स्तुति में रचित **करुणालहरी** में पचपन श्लोक हैं । जगन्नाथ इस लहरी के प्रारम्भ में भगवान् विष्णु के प्रति पूर्ण समर्पण-भाव व्यक्त करते हैं :

"वेदना के क्षेत्र इस विषाग्नितुल्य संसारसमुद्र में तड़पता हुआ मैं छुटकारा पाने में असमर्थ हूँ , सो हे नाथ ! मैं स्वयं को आपके हाथों सौंपता हूँ ।"

एक अन्य श्लोक में कवि कहता है कि केवल हरिचरण ही उसे अपनी इन्द्रियों को वश में करने में सहायक हो सकते हैं :

" देव ! मेरे इन्द्रियरूप घोड़े विवेक की लगाम तोड़कर, उद्धत हो कर भाग निकले हैं । हे हरि ! वे आपकी चरणरूपी अश्वशाला में पहुँच कर सुशीलता को धारण करें ।" (श्लोक 10)[18]

कवि ठीक ही सोचता है कि भगवान् के लिए उसे बचाना तो मात्र बच्चों का खेल है । कवि का प्रश्न है :

"अत्यन्त विनय के साथ मैं आपसे पूछता हूँ; भली-भाँति सोचकर उत्तर दीज़िये । भगवन् ! क्या मैं गज या पर्वत से भी भारी हूँ जो आप तुरन्त मुझे उठाते नहीं ?" (श्लोक 15)[19]

यहाँ भगवान् द्वारा ग्राह की पकड़ से गजेन्द्र को मुक्त कराने का और गोकुलवासियों को मूसलाधार वर्षा से बचाने के लिए गोवर्धन पर्वत उठाने का संदर्भ है ।

कवि कहता है कि यदि भगवान् उसकी रक्षा के लिए नहीं आएँगे तो लोगों की आलोचना का पात्र वे ही तो बनेंगे :

" मैं इतना भूखा हूँ कि गलियों में बिखरे अन्नकणों को बटोरने में भी मुझे लज्जा नहीं है । किन्तु हे अकलंक नाथ, आपका अपना यदि दूसरे के पास माँगने जाए तो यह आपके लिए यश की बात नहीं है ।" (श्लोक 18)[20]

अपने कष्टों की अपेक्षा कवि को भगवान् की संभावित अकीर्ति की अधिक चिन्ता है :

"नरक में अपने पापों के फलस्वरूप यातनाएँ भोगने से भी अधिक असह्य मेरी यह पीड़ा है कि लोग मुझे अनाथ समझ लेंगे ।" (श्लोक 20)[21]

कवि भगवान् को स्पष्ट बता देता है कि यदि वे विपत्ति में उसकी रक्षा नहीं करते तो पिता के अपने कर्तव्य से विमुख होंगे :

"राह चलता व्यक्ति भी बच्चे को गढ़े में गिरने से बचाता है । प्रभो ! आप मेरे पिता हो कर भी क्या मुझे संसारसागर में गिरने से नहीं बचाएँगे ?" (श्लोक 26)[22]

यदि कोई अपना कर्तव्य करता है तो उसे चाहिए कि वह इसे हर प्रकार से संपूर्ण रूप में निबाहे । भगवान् को भी तो यही करना चाहिए :

"शैशव में लालित शिशु को पिता उसके बड़े होने पर पीट भी सकता है । किन्तु मुझे तो तुमने कभी लाड़ नहीं किया भगवन् । फिर दुर्भाग्य के कोड़ों से मुझे पीटते क्यों हो ?" (श्लोक 32)[23]

'जो भी पाप मैंने किये उनमें कारण तो आप ही थे,' ऐसा कवि का कहना है :

" मैं नहीं कहता कि मैंने पाप नहीं किया किन्तु प्रभो, मेरी बात तो सुनिये । वास्तव में आपकी 'पतितोद्धारक' उपाधि ने ही पाप का डर मेरे मन से निकाल दिया।" (श्लोक 37)[24]

आख़िरकार कवि को समझ में आता है कि वह भगवान् को अकरुणा और निष्क्रियता का उलाहना देकर अनावश्यक धृष्टता कर रहा है । वह क्षमायाचना करता है (श्लोक 38) और प्रार्थना करता है कि वे उसे बालगोपाल के रूप में अपना ध्यान करने की शक्ति प्रदान करें ।

पन्द्रह श्लोकों (40-54) में पण्डितराज जगन्नाथ भगवान् श्रीकृष्ण का मनोहर शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं । सिर से पाँव तक भगवान् का वर्णन करने के उपरान्त वे प्रार्थना करते हैं :

"घर में बोलते, सोते या बाहर खड़े अथवा गली में चलते–सदैव आपका यह सुन्दर रूप मेरे हृदय का अवलम्बन हो ।" (श्लोक 53)

अन्त में कवि विधाता से याचना करता है :

"हे ब्रह्मन्, आपको अंजलिबद्ध प्रणाम करके मैं केवल एक वर माँगता हूँ । कृषक भी यदि भगवान् गोविन्द के चरणकमलों के उपासक हों, तो मेरा अगला जन्म उन्हीं के बीच हो ।" (श्लोक 55)[25]

करुणालहरी अत्यन्त उत्कृष्ट स्तोत्र है जिसमें सच्चे भक्त के सभी लक्षण-गहरी निष्ठा, भगवान् की परित्राणात्मक शक्ति और पितृतुल्य स्वभाव में पूर्ण विश्वास, एवं संपूर्ण आत्मसमर्पण-प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुए हैं । यह अपनी तरह के किसी भी अन्य ग्रन्थ की बराबरी कर सकता है और वक्रोक्ति, अर्थात् अभिव्यक्ति की कलात्मक भङ्गी में और उपास्य देव के रूप के सजीव वर्णन में ऐसे अधिकतर ग्रन्थों से बढ़ कर है । प्रबन्ध कहलाने के विषय में अन्य चारों लहरियों की अपेक्षा इस लहरी का अधिकार सबसे अधिक है ।

सात

लक्ष्मीलहरी

इस लहरी में जगन्नाथ इकतालीस श्लोकों में समृद्धि और सौन्दर्य की देवी लक्ष्मी का वर्णन करते हैं । लक्ष्मी की कृपा से ही मनुष्य संपत्ति, शक्ति और अन्य सभी लौकिक सुख प्राप्त कर सकता है । पहले पाँच श्लोक भगवती के कृपापूर्ण दृष्टिपात का वर्णन करते हैं ।

" जिस पुरुष पर आपकी सदय दृष्टि पड़ती है उसके आलिंगनपाश में स्वर्ग की सुन्दरियाँ मन्मथ के बाणों से व्याकुल होकर स्वतः आ गिरती हैं जबकि उनके ढीले हुए केशभार से फूल गिरते जाते हैं; और हे उज्ज्वल कान्तिमयी देवी ! शिव आदि समस्त देवता उसका प्रशस्तिगान करते हैं ।" (श्लोक 3)[26]

" भगवति कमलालये ! एक बार तुम्हारी सदय दृष्टि जिस पर पड़ती है उसके घर में मृगनयनी युवतियों के मधुर संगीत-स्वर गूँजते हैं, बहिर्द्वार पर श्रेष्ट जाति के घोड़ों की हिनहिनाहट और वहीं कुछ दूरी पर मदान्ध गजों का निनाद सुनाई देता है ।" (श्लोक 4)[27]

भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं का अनुग्रह पाने के लिए भक्तजन अनेक मन्त्रों का जप करते हैं और ये मन्त्र गुप्त रखे जाते हैं । लक्ष्मी का एक ऐसा ही मन्त्र दसवें श्लोक में छिपा हुआ है जिसके उच्चारण से, कवि कहता है कि, मनुष्य अतुल संपदा प्राप्त कर सकता है जो उसके गजयूथों से लक्षित होती है ।

जैसा कि भामह **काव्यालंकार** में कहते हैं, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अर्थ, प्रत्येक न्याय और प्रत्येक कला काव्य में स्थान पा सकते हैं ।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः ।।

(काव्यालंकार, V.4)

सभी महान् काव्यों में हमें विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तों के संदर्भ मिलते हैं । **लक्ष्मीलहरी** में हमें अद्वैत वेदान्त और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत अवधारणाओं के ऐसे ही दो संदर्भ मिलते हैं । लक्ष्मी के लगभग अविद्यमान, सुकुमार मध्यदेश का वर्णन करते हुए जगन्नाथ कहते हैं :

'हे विष्णुप्रिया ! अभी तक मेरा मन जगत् को मिथ्या कहने वाले वेदान्तवाक्य का मर्म समझने में असमर्थ था । किन्तु आज समस्त लोकों के जनक तुम्हारे उदर का चिन्तन करते हुए मेरा मन सभी संदेहों से मुक्त हो गया है ।" (श्लोक 17)[28]

जब स्वयं कारण ही असत् है तो कार्य के असत् होने में संदेह हो भी कैसे सकता है ?

भ्रान्तिज्ञान के प्रसंग में, प्रतीयमान पदार्थ, जैसे रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत, को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है । बौद्ध दर्शन की एक शाखा के अनुसार, असत् पदार्थ भ्रान्तिज्ञान के अधिकरण में सत् जैसा भासित होता है । अद्वैतियों की अनिर्वचनीय ख्याति और नैयायिकों की अन्यथा ख्याति आदि के विपरीत इस सिद्धान्त को शास्त्रीय भाषा में असत्ख्यातिवाद (असत् वस्तु की प्रतीति का सिद्धान्त) कहा गया है ।

भगवती लक्ष्मी के कटिदेश का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

"बौद्ध मत के अन्य सिद्धान्तों के साथ-साथ असत्ख्यातिवाद का भी नैयायिक आदि अनेक बड़े विद्वानों ने प्रबल युक्तियों द्वारा प्रत्याख्यान कर दिया । अब वह असत्ख्याति आपकी कटि में शरण लेती है ।" (श्लोक 18)[29]

कवि का मानना है कि बौद्धों की असत्ख्याति भ्रान्तिज्ञान के अन्य उदाहरणों में सही हो या न हो किन्तु देवी की कटि की प्रतीति के विषय में तो इसे स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि असत् कटि भी विद्यमान-सी प्रतीत होती है ।

करुणालहरी में कवि ने भगवान् कृष्ण के रूप का सिर से पाँव तक वर्णन किया है जबकि इस लहरी में वे लक्ष्मी के रूप का वर्णन पाँव से सिर की ओर करते हैं । कविसमय के अनुसार (**कुमारसंभव**, I-33 पर मल्लिनाथी टीका में) मनुष्य के रूप का वर्णन सिर से प्रारम्भ होकर पाँव पर, और दैवी प्राणियों का वर्णन पाँव से आरम्भ कर सिर पर समाप्त होना चाहिए । जगन्नाथ इस परम्परा का कड़ाई से पालन नहीं करते ।

आठ

सुधालहरी

तीस श्लोकों में रचित **सुधालहरी** नामक स्तोत्र भगवान् सूर्य की स्तुति करता है । मयूर कवि की सुप्रसिद्ध कृति **सूर्यशतकम्** भी सूर्यदेव की स्तुति में लिखी गई थी । **सुधालहरी** पर **सूर्यशतक** का प्रभाव हम स्पष्ट देख सकते हैं । भावों, शब्दों या वाक्यांशों का आदान कहीं नहीं हुआ है, फिर भी शैली और विन्यास का प्रभाव स्पष्ट है । **सूर्यशतक** की भाँति यह लहरी भी धीमी गति के स्रग्धरा छन्द में लिखी गई है और ओज-गुण से परिपूर्ण है । **सूर्यशतक** पढ़ने के बहुत समय बाद यदि कोई व्यक्ति **सुधालहरी** के एक या दो श्लोक देखे तो वह उन्हें भी **सूर्यशतक** का समझ बैठने की भूल अवश्य करेगा; दोनों स्तोत्रों की शैली में समानता ही ऐसी है । कोई आश्चर्य नहीं कि **रसगंगाधर** के एक टीकाकार वहाँ उद्धृत **सुधालहरी** के प्रथम श्लोक को मयूर के सूर्यशतक से उद्धृत बतलाते हैं **(र. ग.चन्द्रिका** हिन्दी टीका, चौखम्बा संस्करण, खण्ड I, पृ. 85) ।

उदित होते हुए सूर्य के सुन्दर वर्णन से कवि इस लहरी का आरम्भ करता है :

"खिले कमलों के समूह पर गिरनेवाले मत्त भ्रमरों का उल्लास, शोकदग्ध हृदय वाली चक्रवाक वधुओं का उद्धार, समस्त निशाचर प्राणियों की विभीषिका, अन्धकार द्वारा अवरुद्ध आँखों का अप्रत्याशित लाभ, एक तेजसंघात उदयगिरि के पीछे से प्रादुर्भूत हुआ ।" (श्लोक 1)[30]

यह श्लोक **रसगंगाधर** में मध्यम काव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत है । कवि के अपने शब्दों में, इस श्लोक में वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालंकार है और शब्द ओज-गुण को प्रकट करते हैं । इसे पढ़ने के तुरन्त बाद रूपक या हेत्वलंकार नामक अर्थालंकार स्पष्ट हो जाता है क्योंकि इसमें निहित प्रसादगुण शीघ्र ही अर्थ का बोध करा देता है । इस प्रकार शब्द और अर्थ द्वारा उत्पन्न चमत्कार अथवा काव्य-सौन्दर्य तुल्य होने के कारण यह मध्यम काव्य का उदाहरण बन जाता है **(र. ग., पृ. 85)**[1]

कवि सूर्य को क़ाल की अवधारणा का आधार मानता है :

"वेदपुराण-विशारदों द्वारा ब्रह्मा की आयु से लेकर घंटे, मिनट और अन्य सूक्ष्म कालावधियों में निहित कालचक्र को जिसका लीलाविलास कहा गया है, अपनी गतियों के द्वारा जो संसार के सभी प्राणियों में निरन्तर षड्विध भावविकारों (जन्म, सत्ता, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास और नाश) को उत्पन्न कर रहा है, वह सूर्य प्रभात में प्राची दिशा में प्रकाशित हो रहा है ।" (श्लोक 21)[31]

एक अन्य पद्य में कवि सूर्य को कामनाओं की पूर्ति करनेवाले कल्पवृक्ष के रूप में देखता है :

"सूर्यरूपी श्रीसंपन्न कल्पवृक्ष आपकी सभी अभिलाषाएँ पूर्ण करे । शुद्ध परब्रह्म

इस वृक्ष का आलवाल है, माया से उपहित ब्रह्म इसका मूल है, किरणें लम्बी स्वर्णिम शाखाएँ हैं, फैलती हुई अरुणिमा पल्लवों का सौन्दर्य है, नीला आकाश भ्रमरमाला है, चार प्रकार के पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इसके स्वादिष्ट फल हैं ।" (श्लोक 26)[32]

इस वर्णन में कवि अद्वैतवाद का अनुगमन करता है । उसके अनुसार ब्रह्म निर्गुण, शुद्ध और निरपेक्ष है और इसलिए जगत् का कारण नहीं हो सकता । जगत् की सत्ता तभी होती है जब ब्रह्म माया के संसर्ग में आता है ।

जैसा कि प्रसिद्ध सूक्ति 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत् ' में कहा गया है, आरोग्य के लिए सूर्य से प्रार्थना करनी चाहिए । कवि सूर्य से हृदय के रोगों के निवारण के लिए भी प्रार्थना करता है :

" हिम के प्रभुत्व को समाप्त करनेवाली सूर्य की स्वर्ण-किरणें बाहरी अन्धकार को मिटा कर, घरों के भीतरी भाग के अन्धकार को मिटाने के लिए प्रत्येक छिद्र में से घर के भीतर निःशंक प्रविष्ट हों । समस्त प्राणियों की उपकारक एवम् इन्द्रियों की प्रेरक ये किरणें हृदयरोग को दूर करें ।" (श्लोक 28)[33]

यहाँ कवि व्यञ्जित करता है कि सूर्य की किरण जैसे बाहरी और भीतरी अन्धकार को दूर करने में समर्थ है वैसे ही वह न केवल बाह्य अंगों के अपितु अन्तरतम अंग अर्थात् हृदय, के रोगों को भी नष्ट करने में सक्षम है ।

छान्दोग्योपनिषद् (1.6.7.8) में सूर्य के भीतर विद्यमान हिरण्मय पुरुष का वर्णन है जिसके श्मश्रु और केश सुवर्णमय हैं और जो आपादमस्तक सुवर्णमय है । उसके नेत्र ऐसे कमल की भाँति हैं जिसका वर्ण वानर के नितम्बों जैसा है । उसे 'उत्' कहा गया है क्योंकि वह सभी पापों से ऊपर है । ऋग्वेद और सामवेद उसके स्तुतिगान में दो स्वर हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् के इस अंश को लेकर **शारीरकभाष्य** के 'अन्तरधिकरण' (**ब्रह्मसूत्र**. 1.1.20-21) में चर्चा की गई है कि क्या यह समस्त वर्णन सूर्यमण्डल में अधिष्ठाता देव के रूप में वर्तमान जीव का है अथवा परमात्मा का है ? यहाँ प्रयुक्त विशेषणों के आधार पर यह निर्णय किया गया है कि यह अंश परमात्मविषयक ही है ।

प्रस्तुत लहरी के अन्तिम पद्य में जगन्नाथ 'अन्तरधिकरण' के तात्पर्य को साररूप में प्रस्तुत करते हुए सूर्य का परमेश्वर के रूप में वर्णन करते हैं । और पाठकों की रक्षा के लिए उसकी मंगल-दृष्टि की कामना करते हैं :

" दिवस का स्वामी, समस्त प्राणियों के अन्तर में व्याप्त परमात्मा आप पर समस्त मंगलों की वर्षा करे; उस परमात्मा को पापों से ऊपर होने के कारण वेदों ने 'उत्' नाम दिया है, उसके नेत्रों की उपमा कपि-नितम्बों के समान वर्ण वाले कमल से दी गई है । ऋक् और साम उसके स्तुतिगीत में दो स्वर हैं और उसके शरीर, केश और श्मश्रुओं का रंग पिघले सोने जैसा है ।" (श्लोक 30)[34]

पंडितराज की पाँचों लहरियाँ अपनी अद्वितीय शैली, सशक्त पदयोजना, सुन्दर

बिम्बविधान और चमत्कारपूर्ण कल्पनाओं के कारण इस प्रकार के स्तोत्र साहित्य में बेजोड़ हैं । सामान्य प्रतिभा के कवियों द्वारा रचित स्तोत्रों में प्रायः मिलनेवाले दोषों, जैसे अर्थ को बोझिल करनेवाले यमकों और अनुप्रासों जैसे शब्दाडम्बर और विशेषण पर विशेषण लादते जाने की नीरस प्रक्रिया से यहाँ हमें राहत का अनुभव होता है । जैसा कवि ने ठीक ही कहा है, प्रसादगुण सभी स्तोत्रों में व्याप्त है जिसके कारण प्रत्येक पद्य का तात्पर्य अनायास ही तुरन्त समझा जा सकता है ।

नौ

भामिनीविलास

प्रास्ताविकविलास

जैसा हम पहले कह चुके हैं, पण्डितराज ने अपने कुछ श्लोकों को **प्रास्ताविकविलास, शृङ्गारविलास, करुणविलास** और **शान्तविलास** के नाम से चार शीर्षकों के अन्तर्गत संगृहीत किया है और इन चारों विलासों को उन्होंने **भामिनीविलास** का सामूहिक नाम दिया है ।

जैसा नाम से ही सूचित होता है, **प्रास्ताविकविलास** विभिन्न अवसरों पर रचित 122 श्लोकों का संग्रह है । इनमें से कई श्लोक अन्योक्तियों के रूप में हैं और केवल कुछ ही सीधे-सीधे कोई शिक्षा देते हैं ।

संस्कृत साहित्य में हमें सहस्रों अन्योक्तियाँ मिलती हैं । इनमें कुछ अन्योक्तियों के रचयिताओं के नाम निश्चित रूप से ज्ञात हैं जबकि अनेक अज्ञातकर्तृक हैं और कुछ के कर्तृत्व का निर्णय मनमाने ढंग से हुआ है । ऐसी अनेक अन्योक्तियाँ हैं जो जगन्नाथकृत मानी जाकर **पण्डितराजकाव्यसंग्रह** के अन्त में (पृ. 128-190) जोड़ दी गई हैं जिन्हें हम बाद में देखेंगे । कवि ने **भामिनीविलास** को अपने पद्यरत्नों की मंजूषा कहा है । अतः यह माना जा सकता है कि इसके सभी श्लोक जगन्नाथ की लेखनी से ही निकले हैं ।

अन्योक्तियों में कुछ अप्रस्तुत पदार्थों के वर्णन के माध्यम से प्रायः निम्नलिखित भावों की व्यञ्जना हुई है –

1. उच्चपदस्थ व्यक्तियों द्वारा प्रायः गुणवान् व्यक्तियों का मूल्य पहचाना नहीं जाता ।
2. ऊँची क्षमताओं वाले मनुष्यों को अपनी योग्यता दिखलाने का अवसर नहीं मिलता ।
3. उपेक्षित होने पर भी योग्य पुरुष अन्ततः अपना प्रभाव अवश्य डालेंगे और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे ।
4. रूप-रंग भ्रामक हुआ करता है ।
5. सत्ता के केन्द्र (जैसे राजदरबार) दुर्जनों और चुगलखोरों से भरे रहते हैं ।
6. सत्ता पर आसीन मनुष्य स्वेच्छाचारी होते हैं ।
7. दुर्दैवग्रस्त कुलीन पुरुषों से दुर्व्यवहार करना उचित नहीं ।
8. अच्छी चीज़ें अप्रत्याशित दिशाओं से आ जाती हैं ।
9. जन्म से श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती ।
10. मनुष्य कृतघ्न है ।
11. अभाव और दरिद्रता से ग्रस्त उदारमना धनवान् व्यक्ति की हालत दयनीय हो जाती है ।

12. श्रेष्ठ कवि या विद्वान् कुछ भी सह सकता है किन्तु अभिमानी व्यक्ति की आत्मश्लाघा और स्वयं को उसकी बराबरी पर रखा जाना सहन नहीं कर सकता ।
13. महानता या नीचता का निर्णय पद से नहीं हो सकता ।
14. सहायता पानेवाले अनेक लोग हो सकते हैं लेकिन उपकारक की अनुपस्थिति में भी उसकी प्रशंसा करनेवाले बहुत कम हैं ।
15. जन्म से या पद से नीचा होने पर भी मनुष्य अपने सहजात गुणों से ही बड़ा होता है ।

ये कुछ भाव हैं जो कवियों द्वारा अन्योक्तियों के माध्यम से प्रायः व्यञ्जित किये जाते हैं । ये सार्वकालिक सत्य हैं जो अन्योक्तियों को शाश्वत महत्त्व प्रदान करते हैं ।

इस पृष्ठभूमि के साथ, आइये अब **प्रास्ताविकविलास** के कुछ श्लोकों का आनन्द लें ।

पहले श्लोक में एक सिंह का वर्णन किया गया है । सिंह बेचैन है क्योंकि पराक्रम दिखलाने के लिए उसके जोड़ का कोई प्राणी नहीं है ।

"मदजल से भीगे कपोलों वाले हाथी क्षितिज के छोर पर सुने जाते हैं, हथिनियाँ तो बेचारी करुणा की पात्र हैं, हरिणों का स्तर इसके समान नहीं है । अब, इस जगत् में यह मृगपति (सिंह) अपने बेजोड़ पैने नखों की शक्ति को कहाँ प्रमाणित करे ?"[35]

ये भावनाएँ शास्त्रार्थ में निपुण किसी पण्डित की, किसी पराक्रमी योद्धा की अथवा किसी कुशल खिलाड़ी की हो सकती हैं ।

इसके बाद कवि किसी ऐसे मनुष्य की दुर्दशा का वर्णन करता है जो बहुत समय तक विलासपूर्ण और सुविधासंपन्न जीवन जी चुकने के बाद आज दरिद्रावस्था में है ।

" खिले कमलों की श्रेणियों से झरते हुए पराग से सुवासित जल वाले मानसरोवर में अब तक जिसका जीवन बीता है वह राजहंसों का नायक अनेक मेंढकों द्वारा आलोड़ित जोहड़ के जल में, कहो तो, कैसे अपने दिन बिताए ?" (श्लोक 2)[36]

उदार व्यक्ति से सहायता लेनेवाले तो अनेक होते हैं किन्तु उससे कोई सहायता लिये बिना उसकी उदारता की प्रशंसा करनेवाले बहुत कम होंगे ।

"ओ खिलते हुए कमल, तुम्हारे टपकते हुए रस का आस्वाद लेनेवाले ये भँवरे अपनी इच्छानुसार भले ही गुंजार करते रहें किन्तु तुम्हारा एक अन्य बन्धु पवन भी है जो तुमसे कोई अपेक्षा किये बिना तुम्हारा सौरभ सभी दिशाओं में बिखेरता है ।" (श्लोक. 4)[37]

लोग मनुष्य को विपत्ति में छोड़ जाते हैं । ऐसे लोग बहुत कम हैं जो सभी अवस्थाओं में उसके प्रति निष्ठा रखते हुए उसे कभी नहीं त्यागते :

"पक्षीगण पहले ही विभिन्न दिशाओं में उड़ गये हैं, भँवरे आम्रवृक्षों की मंजरियों का आश्रय ले रहे हैं । ओ सरोवर, जैसे-जैसे तुम सिकुड़ते जा रहे हो वैसे-वैसे असहाय होती जाती यह मछली अब अपने लिए कौन-सा मार्ग खोजे ।" (श्लोक 16)[38]

याचक भी निःस्वार्थ हो सकता है :

"हे कमलिनी, 'मधुप की भाँति यह वायु भी लोभवश मेरा सौरभ पाना चाहता है, ऐसा न सोचो । लोक की प्रसन्नता के लिए ही इसने पूजित होने पर भी अपने आपको याचक बनाया है ।" (श्लोक 17)

मूर्खों के समूह में मूर्खता का अभिनय करने में ही सुरक्षा है :

"ओ कोयल, तुम इस वन में अकेली हो । मेरी सलाह है कि अपने मधुर स्वर का उच्चारण कदापि न करना; (जब तक तुम मौन हो तब तक) ये निर्दय कौए तुम्हें अपना सजातीय समझेंगे और तुम्हें मारेंगे नहीं ।" (श्लोक 23)

मुसीबत में छोटी-सी सहायता भी बहुत बड़ी होती है :

"ओ माली, गर्मी की भीषण धूप में थोड़े-से जल से इस वृक्ष को जो पोषण तुमने करुणापूर्वक प्रदान किया था क्या सर्वत्र धारासार जल बरसाता हुआ वर्षा का यह बादल इसे वह पोषण दे सकता है ?" (श्लोक 28)

क्षुद्र व्यक्ति यदि महान् व्यक्ति की उपस्थिति में स्वयं को बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाए तो वह कैसा हास्यास्पद है :

"ओ बरसाती नदी, गंगा के विशाल प्रवाह में तुम्हारे प्रवेश पर हम कोई रोक नहीं लगाते । किन्तु उसके सम्मुख तुम अपनी लहरों के नाज़-नखरे दिखलाओ यह तो उचित नहीं ।" (श्लोक 43)

अच्छी चीज़ें अप्रत्याशित दिशाओं से आ जाती हैं :

" वृक्षों को रोपने में कुशल, चतुर माली ने साधारण रूप में उपवन के किसी कोने में बकुल का पेड़ भी लगा दिया । उस समय कौन जानता था कि कोने में पड़ा हुआ यह बकुल संपूर्ण जगत् को अपने पुष्पों के सौरभ से सुवासित कर देनेवाला है ।" (श्लोक 52)[39]

तीर्थ और सत्ताकेन्द्र दुर्जनों से भरे रहते हैं :

"हे व्याध, यह सोचकर हृदय में अनुताप न करो कि केवल तुम ही विश्वासशील प्राणियों का जीवन निर्दय होकर छीनते हो । राजभवनों और तीर्थों में सज्जनों के वैरी अनेक षड्यन्त्रकारी दुष्ट रहते हैं जो तुम्हारे प्रतिरूप हैं ।" (श्लोक 65)

थोथा चना बाजे घना :

"विद्यामन्दिर से गिरनेवाले कतिपय कणों को चुरालेने वाले विवेकशून्य लोग यदि भगवती सरस्वती के दुर्ग की अतुल संपदा को अनायास ही जीत लेने वाले विद्वानों के सामने बढ़-चढ़ कर बोल सकते हैं तो आज या कल छोटे-छोटे पक्षी सर्पों के, खरगोश बाघों के, और कुत्ते सिंहों के सिरों पर सुखपूर्वक पाँव रखेंगे ।" (श्लोक 70)[40]

प्रत्येक वर्ग का अपना अलग व्यवहार और रीति-रिवाज़ होते हैं :

"वानरों की सभा में वृक्षों की शाखाएँ कोमल आसन हैं, चीख़-पुकार सुभाषित हैं और दाँतों और नखों से नोचना-खसोटना ही अतिथि-सत्कार है । ठीक है, यही तो स्वाभाविक

है ।" (श्लोक 80)[41]

कभी-कभी गुणवत्ता भी हानिकर सिद्ध होती है :

"गुणों के समूह को धिक्कार है, गुणों का अभाव ही श्रेयस्कर है । दूसरे वृक्ष तो बढ़ते रहते हैं जबकि चन्दन के पेड़ काटे जाते हैं ।" (श्लोक 83)[42]

कुछ लोग कभी नहीं सुधर सकते :

"दुर्जन के प्रति सौजन्य दिखलाने वाला व्यक्ति वस्तुतः आकाश में बीज बोता है, हवा में सुन्दर चित्र बनाता है और पानी में रेखाएँ खींचता है ।"(श्लोक 93)[43]

गुणज्ञता भी गुणवत्ता जैसी ही दुर्लभ है :

"किसी मूर्ख ने बन्दर के वक्ष पर मोतियों का हार पहना दिया । बन्दर ने इसे चाटा, सूँघा और इसे गोलाई में लपेट कर ऊँचा आसन बना लिया ।" (श्लोक 94)[44]

अपने लोगों का अहित करनेवाली श्रेष्टता को धिक्कार है :

"ओ कस्तूरी, तुम्हारा सौरभ सभी सुगन्धों का सरताज है, किन्तु उस पर गर्व न करो । इस सौरभ के द्वारा ही तो तुम पर्वतों की गहन गुफाओं में अत्यन्त दीन भाव से छिपे हुए अपने जन्मदाता को जीवन से वंचित करा देती हो ।"(श्लोक 115)

शृंगारविलास

भामिनीविलास का यह दूसरा विलास है जिसमें 180 श्लोक हैं । यह संयोग और विप्रलम्भ शृंगार के विविध पक्षों का वर्णन करता है ।

निम्नलिखित पद्य में 'रति' से जुड़े हुए 'व्रीडा' नामक संचारी भाव की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है :

"प्रभात में अपने पूज्य गुरुजनों को प्रणाम करने पर उनसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद सुन कर प्रिया ने आदरमिश्रित आनन्द के साथ, समीप खड़े अपने पति की ओर दृष्टिपात किया ।" (श्लोक 6)

एक अन्य श्लोक में भावसन्धि का सुन्दर वर्णन है । यहाँ त्रास और औत्सुक्य का मिश्रण है :

"आह ! मृगनयनी के विकसित कमल जैसे सुन्दर उन नयनों को मैं कभी नहीं भूल पाता जो मेरी ओर देखते समय गुरुजनों की उपस्थिति के कारण भयभीत थे ।" (श्लोक 7)

किसी सुन्दरी की एक और भंगिमा प्रस्तुत है जो उसके प्रेमी के मानस पर अमिट छाप बनाये हुए है :

"प्रभात के प्रथम प्रकाश को देखकर अपने वस्त्र की ढीली गाँठ को बाँधती हुई जब मेरी कमलनयनी प्रियतमा शय्या छोड़ रही थी तब मैंने कमल की कुक्षि के आकार वाली उसकी नाभि का जो सौन्दर्य देखा था, वह मेरे हृदय से कभी नहीं उतरता ।" (श्लोक 10)[45]

चिरसंचित विवेक और प्रबल आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ उसी क्षण नष्ट हो जाती हैं जिस

क्षण किसी सुन्दरी के विलासमय कटाक्ष हृदय में स्थान पा जाते हैं । कवि कहता है :

"अनेक पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियों के गम्भीर अध्ययन से उत्पन्न विवेक तभी तक सुरक्षित है जब तक हरिणी-से नयनों वाली युवती का नेत्र-विलास हृदय में प्रविष्ट नहीं होता ।" (श्लोक 13)

लम्बे प्रवास के बाद अपने घर लौट रहे, अथवा अपनी ससुराल जा रहे, युवक की भावनाओं का कैसा सुन्दर चित्रण है :

"तुम्हारा पति आ गया है, अपनी सखियों से ये शब्द सुनकर चकित भाव से दहलीज पर आई हुई मृगनयनी कब चाँदनी की भाँति मेरी आँखों को शीतल करेगी ।" (श्लोक 14)[46]

आगे वर्णित दाम्पत्य-प्रेम आज भी करोड़ों घरों में देखा जा सकता है :

"सन्ध्या को मेरे लौटने के समय घर के द्वार पर टकटकी लगाये हुए रमणी का मुख मुझे आया देखकर आनन्द से खिल उठा ।" (श्लोक 15)[47]

कुछ लोग सभी पुरुषार्थों में काम को सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं :

"केलि के श्रम से थकी हुई प्रियतमा के कमलोपम मुख से निकलता हुआ 'न, न' का मधुर शब्द मनुष्य के संताप को जो शान्ति देता है वह तो बारम्बार अधीत सैकड़ों श्रुतियाँ अथवा महाभारत भी नहीं दे सकते ।" (श्लोक 33)[48]

अलंकारशास्त्र में शृंगारनायिकाओं को मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नामक तीन वर्गों में बाँटा गया है । यह वर्गीकरण प्रणय-व्यापार के प्रति उनकी प्रवृत्ति पर आधारित है । यहाँ दो श्लोकों में लजीली एवं नवोढा मुग्धा नायिका का वर्णन है :

"एकान्त में पति के बाहुपाश में बँधी हुई नवविवाहिता बाला अचानक जाल में फँसी हुई बालमृगी की भाँति काँपती है ।" (श्लोक37)[49]

"रात्रि में किसी ज्येष्ठ महिला द्वारा समझा-बुझाकर पति के समीप सुलायी गई कमलनयनी आशंकित है : 'अब आगे क्या होगा ।' (श्लोक 51)[50]

कोई युवक कर्णाभरण के प्रति ईर्ष्या का भाव रखता है क्योंकि युवती उस कर्णाभरण से ऐसे व्यवहार करती है जैसे अपने प्रेमी के साथ रतिक्रीड़ा में करती है :

"ओ सुन्दर कर्णावतंस ! अपने पुण्यों के फलस्वरूप तुम, कानों को अलंकृत करने के लिए निरन्तर अभिनव पीड़ा का अनुभव करती हुई और सीत्कार की ध्वनि के साथ अपना मुख तिरछे मोड़ती हुई मृगनयनी के कर-कमलों के व्यापार का आस्वाद करते हो । तुम्हारा जन्म सर्वथा धन्य है ।" (श्लोक 53)

आसन्न विरह की संभावना से दुःखिता नायिका का एक सुन्दर वर्णन यहाँ प्रस्तुत है :

"घर के वृद्धजन प्रयाण के समय मांगलिक वचनों का उच्चारण कर रहे हैं किन्तु हाय ! यह बाला अपने निजी कक्ष के वातायन पर अपना मुख-कमल टिकाए, प्रवास पर जानेवाले अपने प्राणनाथ को देख रही है; इसके नेत्र चंचल हो उठे हैं, वक्ष आँसुओं से भीग गया है और अधर गर्म साँसों से फ़ीका पड़ गया है ।" (श्लोक 55)[51]

अवहित्था एक शृंगार चेष्टा (प्रेम के कारण हठात् होनेवाली चेष्टाएँ) का नाम है । इसमें दूसरों से अपने भावों को छिपाने का प्रयास होता है । इसी का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है :

"गोपवृद्धों के बीच (कृष्ण द्वारा) कालिय नाग के दमन के वर्णन में, कृष्ण की महिमा को सुनकर जिसके कपोलों पर स्वेद और रोमांच हो आया था वह कुलवधू तुरन्त विष की लपटों को उगलनेवाले सर्पराज के फणों पर किये गए कृष्ण के नृत्य के विषय में आश्चर्य व्यक्त करने लगी ।" (श्लोक 64)

शृंगार रस के पण्डितों का मत है कि विरह के बाद का संयोग, विरह का जो भी कारण रहा हो, अधिक मधुर और आस्वाद्य होता है : 'न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते' । देखिये, पण्डितराज के एक पद्य में शृंगार के इस पक्ष को कैसी रमणीय अभिव्यक्ति मिली है :

"क्रीड़ाकक्ष में प्रविष्ट होकर मैंने सेविकाओं को संकेत से बाहर भेज दिया और रूठ कर शय्या पर सोई हुई उस मृगनयनी को पंखा झलने लगा । उसने आँखें बन्द किये हुए ही अनजान होने का अभिनय करते हुए, 'बस सखी, तू थक गई है,' ऐसा कह कर मेरा हाथ अपने वक्ष पर रख लिया । " (श्लोक 83)[52]

एक नवयौवना से उसकी सखियाँ पूछती हैं कि लम्बे प्रवास के बाद घर लौटे हुए पति के साथ उसकी रात कैसी बीती । वह उन्हें टालते हुए इस प्रकार उत्तर देती है :

"दूर देश से लौटे हुए प्रिय ने कथाएँ सुना-सुना कर सारी रात मुझे जगाए रखा है । अरी सखी, मैं अब अधिक कुछ नहीं बता सकती । अब बक-बक न कर, तेरी जिह्वा तो लोहे की बनी हुई है ।" (श्लोक 104)

करुणविलास

उन्नीस श्लोकों में रचित **करुणविलास** अपनी दिवंगता पत्नी के प्रति कवि के हृदय से निकला हुआ करुण भावोद्गार है ।

जगन्नाथ का अनुभव है कि प्रिया की शृंगारचेष्टाएँ और विलासमयी रीतियाँ उनकी कविता की स्रोत थीं । अब उसके न रहने पर वे काव्यरचना में समर्थ नहीं हैं :

"ओ मनोहरशील प्रिया ! अमृत के समान सरस तुम्हारे विलास ही मेरे हृदय में सुकविता के रूप में परिणत हो जाते थे; अब उनकी अनुपस्थिति में मैं मनोहर काव्य की रचना कैसे कर सकूँगा ?" (श्लोक 70)[53]

यदि कवि अपने दैनिक जीवन में विविध भावों के प्रति संवेदनशील नहीं है तो वे भाव उसके काव्य में प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त नहीं हो सकते । आनन्दवर्धन भी इसी ओर संकेत करते हैं :

शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेत् नीरसं सर्वमेव तत् ।।
(ध्वन्यालोक, III. 42)

"यदि कवि शृंगाररसात्मक संवेदना रखता है तो उसके काव्य में संपूर्ण जगत् शृंगाररस से आप्लावित हो जाता है । किन्तु यदि वह भावशून्य हो तो (उसके काव्य में) जगत् भी रसहीन हो जाता है ।" यहां शृंगार शब्द सभी रसों का उपलक्षण है ।

अपने पूर्वोक्त पद्य में जगन्नाथ का यह कथन भी, कि उनकी प्रिया के विलास उनके द्वारा प्रणीत सुन्दर काव्य के रूप में परिणत हो जाते थे, इसी धारणा की प्रतिध्वनि है । यह वैसे ही है जैसे व्याध द्वारा विद्ध पक्षी को देखकर वाल्मीकि के मन में उमड़े हुए शोक ने श्लोक का रूप ग्रहण कर लिया (क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः– **ध्वन्यालोक**) ।

अलंकृत भाषा में जगन्नाथ कारुण्य का आकर्षक चित्रण करते हैं :

"ओ मृगनयनी, पृथ्वी पर रहती हुई तुमने मुझे 'ओ रमण, हे नाथ, हे मनोहर' आदि संबोधनों द्वारा स्वर्ग पर चढ़ा दिया था । किन्तु आज स्वयं स्वर्गारोहण कर मुझे धूलभरी धरती पर क्यों फेंक रही हो ?" (श्लोक 13)[54]

शान्तविलास

इस अन्तिम विलास में 44 श्लोक हैं । अन्य विलासों की भाँति यहाँ भी श्लोकों का विषयवस्तु के अनुसार कोई व्यवस्थित विभाजन नहीं है । इक्कीस श्लोक विष्णु की स्तुति में हैं जिनमें अधिकांश कृष्णरूप के प्रति हैं; दो राम की स्तुति में हैं । शिव का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है । एक श्लोक में विष्णु को जीव से अभिन्न परब्रह्म कहा गया है । छः श्लोकों में वे चुनौतीभरे स्वर में कवि के रूप में अपनी महिमा का बखान करते हैं और हमें आश्चर्य होता है कि ऐसे श्लोकों को **शान्तविलास** में कैसे स्थान मिल गया । बड़ी संख्या में भक्ति-भाव से परिपूर्ण श्लोकों द्वारा कवि सूचित करता है कि मनुष्य के मन को वास्तविक शान्ति भगवान् के प्रति निष्ठा और भक्ति से ही मिल सकती है चाहे उसका ध्यान किसी भी रूप में किया जाए ।

तीसरे और चौथे श्लोक में श्रीकृष्ण का बड़ा सुन्दर रूपकमय वर्णन है । इनमें से पहला जगन्नाथ द्वारा **रसगंगाधर** के आरम्भ में मंगलश्लोक के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

"यमुनातट के वृक्षों पर विश्राम करनेवाली, अविनश्वर दीप्ति वाली सैकड़ों बिजलियों द्वारा परिवेष्टित, और स्मरणमात्र से मनुष्यों के असह्य संताप को करुणापूर्वक हरनेवाली वह अद्भुत मेघमाला मेरी बुद्धि का विषय बने ।" (श्लोक 3)[55]

"यमुना के तटवर्ती वनप्रदेशों को प्रकाशित करता हुआ, (संसार में) प्राणियों के सतत् आवागमन के श्रमभार को हरता हुआ, गोपिकारूपी लता पंक्तियों द्वारा घिरा हुआ, मधुर

कान्ति से युक्त वह तमालवृक्ष मेरे कष्टों को शीघ्र सर्वथा दूर करे ।" (श्लोक 4)

अपने जीवात्मा को सम्बोधित करता हुआ कवि प्रश्न करता है कि क्या कोई ऐसा पदार्थ है जो 'कृष्ण' नाम के दो अक्षरों जैसा माधुर्य लिये हो :

"ओ मेरे जीवात्मा ! तुमने द्राक्षा का स्वाद लिया, मिश्री भी चखी, शुद्ध दूध का पान किया, स्वर्ग जाने पर अमृत का आस्वाद भी पाया और रम्भा का अधर भी अनेक बार खण्डित किया । पर सच-सच कहना, बारम्बार संसार में भटकते हुए क्या तुमने इन पदार्थों में कहीं भी 'कृष्ण' इन दो अक्षरों से निकलनेवाले माधुर्य का अनुभव किया ?" (श्लोक 7)[56]

यह पण्डितराज के उन अनेक श्लोकों में है जिनका भाव एवं शैलीगत सौन्दर्य किसी भी अनुवाद में व्यक्त करना संभव नहीं ।

एक बार प्रभु की झलक पा लेने भर से सांसारिक पदार्थों से भक्त का संबन्ध समाप्त हो जाता है और वह प्रभु के साथ एकाकार हो जाता है । कवि कहता है :

"ओ मन ! तुम्हें एक सलाह देता हूँ । वृन्दावन में गायों के झुण्ड चराते हुए नवीन जलधर के समान वर्ण वाले उस व्यक्ति से कभी मित्रता न करना। अन्यथा सब ओर से सौन्दर्यामृत बरसाता हुआ वह अपनी मन्द मुसकानों से तुम्हें लुभा कर तुमको और तुम्हारे प्रिय विषय-भोगों को तुरन्त नष्ट कर डालेगा ।" (श्लोक 9)[57]

पण्डितराज के भीतर का अद्वैतवादी बल देकर कहता है कि ईश्वर को कहीं और खोजना व्यर्थ है जबकि वह अपने भीतर ही है, अपना अन्तरात्मा ही है :

"जिसकी दीप्ति सकल ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए है, जिसके द्वारा विश्व प्रकाशित होता है और जो समस्त प्राणियों के अहंभावात्मक ज्ञान का आधार है, उस विष्णु के विषय में, अपनी ही सत्ता की गहराइयों से अनजान मनुष्य दूसरों से पूछते हैं । हाय, मनुष्यों की मूर्खता का वर्णन भला कौन कर सकता है ?" (श्लोक 12)[58]

भक्ति ही मुक्तिदात्री है, अन्य सब श्रम का अपव्यय मात्र है :

"बन्धन से मुक्ति के लिए मनुष्य यज्ञ आदि के द्वारा कर्म की बेड़ियों का निर्माण करते हैं, अन्तःकरण की शान्ति के लिए अनेक ऋषियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अध्ययन की बड़ी भारी चिन्ता का भार सँभालते हैं, अशुभ के समुद्र के पार जाने के लिए तीर्थों के तल में गोता लगाते हैं । संसार की भँवर में पड़े हुए लोगों का प्रत्येक कार्य भ्रान्ति द्वारा ही परिचालित होता है ।" (श्लोक 15)[59]

कवि का कहना है कि धनवान् व्यक्ति कभी भी ईश्वर के समीप नहीं जा सकता :

"मदमत्त हाथियों के कपोलों पर मँडराने वाले भ्रमरसमूह के मधुर गुंजन से मनोहर संपदा एक क्षण के लिए भी मेरी न हो । जो लोग संपत्ति में आकण्ठ डूबे हुए हैं और जिनके मानस इसके सुखों द्वारा अभिभूत हैं वे विष्णु के चरणों की उपासना का आनन्द भूल चुके हैं ।" (श्लोक 18)[60]

मन ही तो मन से उत्पन्न होनेवाले काम का (मनोभव का) पिता है । इसलिए मनोभव का नाश करनेवाले देवाधिदेव शिव के प्रति इसका विद्वेष स्वाभाविक है । कवि इस मन से कहता है :

"ओ मेरे मन ! मैं जब मनोभव के शत्रु के पादारविन्दों का निरन्तर ध्यान कर रहा हूँ तो तुम मुझे संसार के गर्त में क्यों गिरा रहे हो ? इतने भर से तुम्हारा पुत्रशोक समाप्त तो नहीं हो जाएगा ।" (श्लोक 21)[61]

रमणीय काव्य रचने की अपनी सामर्थ्य के विषय में कवि का आत्मविश्वास विलक्षण है । कवि के रूप में अपनी उपलब्धियों पर उन्हें गर्व है जिसे व्यक्त करने में उन्हें कोई संकोच नहीं है :

"वाग्देवी भी अपने हाथों से वीणा के तारों को छेड़ना भूलकर जिसकी रचनाओं के अमृतमय रस का पान करती है, उस पण्डितराज की मनोहर कविताओं को सुनकर जिसका सिर (प्रशंसा में) हिल नहीं जाता वह या तो नरपशु है अथवा पशुपति (शिव) है ।" (श्लोक 27)[62]

किसी महान् कवि या विद्वान् का दूसरे लोगों द्वारा ठीक-ठीक मूल्यांकन उसके जीवन-काल में कम ही होता है । ऐसे व्यक्ति को यही सोचकर संतुष्ट होना पड़ता है कि आनेवाली पीढ़ियाँ उसके कृतित्व को मान्यता देंगी । यह कालिदास के संबन्ध में भी सत्य है, जिन्होंने कहा था कि विद्वानों के संतुष्ट होने तक वे अपनी कला की पूर्णता के बारे में आश्वस्त अनुभव नहीं करते (आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्) और भवभूति के सम्बन्ध में भी, जिन्होंने घोषित कर दिया कि अपने समकालीनों द्वारा अपनी कृतियों के अनुमोदन या आलोचना की उन्हें चिन्ता नहीं है, और विश्वासपूर्वक कहा कि इस विशाल संसार में और निरवधि काल में उनके कृतित्व को समझनेवाला कोई-न-कोई व्यक्ति, कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी, अवश्य उत्पन्न होगा । जगन्नाथ के विषय में भी यह बात उतनी ही सत्य है । उन्होंने भी अपने काव्य को लेकर ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं :

"ईर्ष्यालु मानस वाले दुर्जनों द्वारा किये गये अनादर से, हे मेरी वाणी, उदास न होओ, तुम तो काव्यारविन्द के मकरन्द का पान करनेवाले भ्रमरों (के समान लोगों) के मुखों में नृत्य करोगी ।" (श्लोक 28)[63]

यदि कोई मेरी कविता का आस्वादन करने में असमर्थ है तो दोष उसी में है मेरी कविता में नहीं :

"मधु , अंगूर, अमृत अथवा रमणी के अमृतोपम अधर शायद किसी को किसी समय आनन्द न दे सकें । किन्तु जगन्नाथ की वाणी जिन्हें आनन्दित नहीं करती वे मन्दमति जन जीवित होकर भी मृत ही हैं ।" (श्लोक 29)[64]

दस

आसफविलास

छोटी-सी यह आख्यायिका नूरजहाँ के भाई और शाहजहाँ के मन्त्री आसफ़ खाँ की प्रशस्ति में लिखी गई है । जैसा कि **ज़िब्बे अफ़सोस आसफ़ खाँ** नामक इतिहास वृत्तान्त में दर्ज है, आसफ़ खाँ की मृत्यु सन् 1641 में हुई । इसलिए इस कृति की रचना उस तिथि से पूर्व, और 1628 में शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के बाद हुई होगी ।

यह कृति कुल चार पृष्ठों में है । समझ नहीं आता कि इतनी छोटी कृति को 'आख्यायिका' नाम कैसे दे दिया गया । भामहकृत **काव्यालंकार** आदि पुराने ग्रन्थों में आख्यायिका के लिए निर्दिष्ट अर्हताओं को यह पूरा नहीं करती । स्पष्ट ही इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा हिस्सा खोया हुआ है यद्यपि प्रारम्भिक अंश और अन्त में दी हुई पुष्पिका यथावत् उपलब्ध हैं ।

प्रारम्भ में छः पंक्तियों का एक गद्यांश है जिसके बाद चार पद्य हैं और फिर 72 पंक्तियों के छः अनुच्छेद हैं । प्रारम्भिक गद्यांश और उसके बाद के चार श्लोकों में यथारीति अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ का वर्णन है । दूसरे गद्यांश में विशाल सेना के साथ शाहजहाँ के कश्मीर जाने का वर्णन है । अगला गद्य भाग कश्मीर के रमणीय भू-भाग का वर्णन करता है । अगला गद्यांश एक काफ़ी लम्बा वाक्य है जिसमें आसफ़ खाँ का वर्णन है, और अगला अनुच्छेद बतलाता है कि आसफ़ खाँ ने सम्राट् के सम्मान में शानदार उद्यान-भोज का आयोजन किया जो अतुल सौन्दर्य-शालिनी सैकड़ों रमणियों की उपस्थिति से और भी रमणीय हो उठा । इससे अगले अनुच्छेद में बतलाया गया है कि भगवान् अमरनाथ की अर्चना के लिए कश्मीर आये हुए देवराज इन्द्र ने जब शाही सभाभवन और उद्यान को देखा तो वे आश्चर्यचकित रह गये और अपने नन्दन उद्यान में उन्हें कोई आकर्षण नहीं रह गया ।

गद्यकाव्य का मानक कविवर बाणभट्ट द्वारा स्थापित किया गया है । **हर्षचरित** और **कादम्बरी** के द्वारा जो प्रतिमान उन्होंने स्थापित किये हैं उन्हें छुए बिना कोई भी गद्यकाव्य उल्लेख-योग्य नहीं समझा जाता । अनेक कवियों ने बाणभट्ट की महनीय कीर्ति से ईर्ष्या रखते हुए गद्यकाव्य लिखना आरम्भ किया और बाणभट्ट से यदि बढ़कर नहीं, तो बराबरी पर आने की सीधी-सादी अभिलाषा अवश्य व्यक्त की । अपने आपको 'अभिनव भट्टबाण' की उपाधि से विभूषित करनेवाले वामन बाण ने, आन्ध्रदेश के राजा वेमभूपाल (चौदहवीं शती) के जीवनसंबन्धी इतिवृत्त का वर्णन करते हुए वेमभूपालचरित नामक गद्यकाव्य लिखा है जिसके आरम्भ में वे कहते हैं कि वे इस ग्रन्थ की रचना कुछ क्षेत्रों में व्याप्त इस भ्रान्त धारणा के निराकरण के लिए कर रहे हैं कि बाण के पश्चात् कोई भी कवि उत्कृष्ट गद्यकृति

की रचना में समर्थ नहीं है । परवर्ती कवियों पर बाण का ऐसा प्रभाव रहा है ।

जगन्नाथ की इस लघु रचना में बाणभट्ट का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है । संस्कृत आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार 'ओज' नामक काव्यगुण अनेक दीर्घ समासों के प्रयोग में निहित है और यह गद्यकाव्य का प्राण है (ओजस्समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्) । यह सिद्धान्त बाणभट्ट की रचनाओं की लोकप्रियता का ही परिणाम होना चाहिए । लम्बे समासों का प्रयोग, साधारण धर्म के तौर पर प्रयुक्त श्लिष्ट शब्दों पर आधारित उपमा अलंकार, विरोधाभास अलंकार, एकावली अलंकार जिसमें परवर्ती विषय का पूर्ववर्ती विषय से सम्बन्ध जोड़ा जाता है, ये बाणभट्ट द्वारा प्रयुक्त कुछ महत्त्वपूर्ण प्रविधियाँ हैं ! इनमें कुछ का प्रयोग हम जगन्नाथ की कृति में भी देखते हैं ।

कश्मीर के मार्गों का वर्णन करते हुए वे उनकी तुलना स्वर-व्यापारों के साथ करते हैं जो आरोह और अवरोह (उदात्त एवं अनुदात्त) के कारण कठिन हैं; और जटिल वैदिक क्रियाओं के साथ भी, जो कष्ट-साध्य हैं किन्तु अन्ततः सुखद फल देती हैं :

"विषमतरारोहावरोहाभिः स्वरभक्तिभिरिव, क्लेशप्रचुरपरिणामसुखैः वैदिककर्मसरणिभिरिव ।" (**आसफविलास**, पृ. 83)

यहाँ एक ओर मार्गों और दूसरी ओर स्वरभक्तियों एवं वैदिक क्रियाओं में कोई वास्तविक सादृश्य नहीं है । यह केवल भिन्न अर्थ एवं तात्पर्य वाले समान विशेषणों पर आधारित है । यद्यपि जगन्नाथ ने दो स्थलों पर विरोधाभास अलंकार के संनिवेश का भी प्रयास किया है किन्तु वह बाणभट्ट द्वारा प्रयुक्त विरोधाभासों जैसा मनोहर नहीं है । आसफ़ खाँ के वर्णन में वे एकावली का सुन्दर प्रयोग करते हैं : 'आसफ़ खाँ सामन्तों में ऐसे थे जैसे साहित्य की अनेक विधाओं में काव्य, जैसे काव्यों में ध्वनि, जैसे ध्वनियों में रस और जैसे रसों में शृंगार ।' इस प्रकार, आज उपलब्ध रूप में **आसफविलास**, आकार में छोटा भले ही हो फिर भी इसमें उच्चकोटि के गद्यकाव्य की संपूर्ण भव्यता दिखलाई देती है ।

ग्यारह

प्राणाभरण या जगदाभरण

जैसा पहले कहा जा चुका है, पण्डितराज ने शब्दों और पंक्तियों में कहीं-कहीं मामूली हेर-फेर के साथ एक ही काव्य का तीन राजाओं, जगत्‌सिंह, प्राणनारायण और दाराशिकोह, की प्रशस्ति के रूप में उपयोग किया है । यह काव्य भी मुक्तकों का संग्रह है और इसमें विभिन्न छन्दों में 53 श्लोक हैं । जगन्नाथ ने इस पर स्वयं टीका लिखी है, जहाँ केवल प्रत्येक श्लोक में अलंकारों का स्पष्टीकरण है ।

काव्य के आरम्भ में वे इस बात पर निराशा व्यक्त करते हैं कि उनके काव्य का मूल्यांकन करनेवाला कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिल सका :

"इस पृथ्वी पर विद्वज्जन दूसरों की काव्यकृतियों की प्रशंसा के प्रति उदासीन हैं; राजा लोग धन की मदिरा से मत्त होकर लुढ़क रहे हैं; फिर कामालस स्वर्ग-सुन्दरियों के अधर की माधुरी को भी झुठलानेवाली मेरी लालित्यमयी कविता किसकी जिह्वा पर नृत्य करेगी ?" (श्लोक 1)[65]

अपनी टीका में वे कहते हैं कि वे केवल विद्वानों की सामान्य प्रवृत्ति का ही उल्लेख कर रहे हैं और इसलिए सहृदयों को उनके शब्दों से उन्हें अन्यथा नहीं समझना चाहिए ।

अगले श्लोक में वे अपनी कविता को आश्वस्त करते हैं कि वह चिन्तित न हो क्योंकि सौभाग्य से महाराज जगत्‌सिंह (अथवा प्राणनारायण) उसके गुणों को समझने के लिए विद्यमान हैं :

" गुणों के उत्कर्ष को समझने का अभ्यास लुप्त हो चुका है, ईर्ष्या का भार बढ़ रहा है, जगत् में जो भी सुन्दर है उसे निगल लेनेवाला कलिकाल आ पहुँचा है, यह सब सोच कर ओ मेरी कविते, मौन न हो जाओ । कामरूपेश्वर (अथवा पृथ्वीपति जगत्‌सिंह) चिरकाल तक जीवित रहें ।" (श्लोक 2)[66]

निम्नलिखित पद्य में कवि ने तीन राजाओं--प्राणनारायण, जगत्सिंह और दिल्ली-नरेश का वर्णन किया है :

" मैं ही महत्ता की चरम सीमा, गम्भीरता का निवास और रत्नों का पिता हूँ, मुझ जैसा दूसरा कौन है, यह सोच सोच कर, हे क्षीर-सागर, गर्व से अन्धे न बनो, तुम्हारे समान प्राणनारायण (या जगत्‌सिंह, अथवा, दिल्लीनरेश) अभी विद्यमान हैं ।" (श्लोक 5)[67]

निम्नलिखित पद्य में राजा को संबोधित कर वे श्लेष की सहायता से उसे समस्त ग्रहों का अवलम्बन बतलाते हैं :

'हे देव, आपका दर्शन मंगल (कल्याण, मंगल ग्रह) का प्रेरक है; आपकी सभा बुध (विद्वान्, बुध ग्रह) से भरी हुई है; आपका मुख काव्य (कविता, शुक्र) का आश्रय है

और अधर अरुण (अरुण वर्ण, सूर्य) का निवास है; आपका क्रोध वज्र का उत्पादक (अशनिभू, अथवा शनिभूः – शनि का स्थान) है । महती धिषणा (बुद्धि, बृहस्पति) के स्वामी हे राजन्, आपका हृदय सोम (सोमलता, चन्द्रमा) का स्थान है । आप सभी ग्रहों के आलम्बन हैं ।" (श्लोक 17)[68]

कवियों द्वारा श्लेष के माध्यम से सुप्रसिद्ध पदार्थों, जैसे तिथि, दिवस, राशि इत्यादि का प्रयोग प्रस्तुत विषय के वर्णन के लिए किये जाने के ऐसे उदाहरण प्रायः ही मिलते हैं ।

एक और श्लोक प्रस्तुत है जहाँ कवि श्लेष का प्रयोग करते हुए राजा को इन्द्र से श्रेष्ट बतलाता है :

"कवि आपको महेन्द्र के तुल्य बतलाते रहें, हम उन्हें रोकेंगे नहीं । सहस्रों व्यक्तियों द्वारा सेवित होकर भी आप त्रिदशाधिपति (त्रिदशों--देवताओं--का राजा, अथवा त्रिदश –तीस व्यक्तियों–का राजा) के तुल्य कैसे हो सकते हैं ?" (श्लोक 31)[69]

इस काव्य में प्रत्येक पद्य मुक्तक है जिसमें किसी एक राजा से संबद्ध किसी कथाविशेष का कोई संदर्भ नहीं और इसलिए उसे अवसर के अनुसार किसी भी व्यक्ति के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है । जैसा हमने पहले देखा था, जगन्नाथ ने वस्तुतः इस काव्य को तीन राजाओं की प्रशस्ति के तौर पर इस्तेमाल किया है ।

एक बात ध्यान में रखने की है : दुर्गाप्रसाद (देखें पृ. 22) के कथन के अलावा यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रबल साक्ष्य नहीं है कि इस कृति को दाराशिकोह की प्रशस्ति के तौर पर इस्तेमाल किया गया था । 'दिल्लीधरावल्लभः' जैसे विशेषण यह संकेत देते हैं कि कवि मुग़ल सम्राट् की बात कर रहा है जो जहाँगीर अथवा शाहजहाँ में से कोई भी हो सकता था । किन्तु यह विशेषण दाराशिकोह का नहीं हो सकता क्योंकि वह कभी सत्ता में नहीं आया । इसलिए तीसरा राजा जहाँगीर अथवा शाहजहाँ होना चाहिए ।

बारह

जगन्नाथ के काव्य में शास्त्रीय तत्त्व

जैसा हमने पहले देखा था, कवि के तीन उपादानों में प्रतिभा और सतत अभ्यास के अलावा सकल शास्त्रों में वैदुष्य भी एक आवश्यक उपादान माना गया है और इस पर लगभग सभी आलंकारिक एकमत हैं। अधिकांश संस्कृत कवियों की रचनाएँ विभिन्न शास्त्रों के उनके गहरे ज्ञान का परिचय देती हैं जिसकी झलक उनके काव्यों में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। कालिदास जैसे कवि भी इसके अपवाद नहीं हैं। रघुवंश में एक वर्णन में वे बतलाते हैं कि रानी सुदक्षिणा ने दिव्य गाय का अनुगमन इस प्रकार किया जैसे स्मृति श्रुति (वेद) के अर्थ का अनुगमन करती है। एक अन्य प्रसंग में वे कहते हैं कि राम ने बाली के स्थान पर सुग्रीव को ऐसे बैठाया जैसे एक धातु दूसरी के स्थान में लाई जाती है। यह उपमा व्याकरण के एक नियम पर आधारित है जिसके अनुसार 'भू' धातु 'अस्' धातु की स्थानापन्न बनती है। अनेक कवि अप्रसिद्ध व्याकरण-नियमों पर आधारित शब्दों के प्रयोग में रुचि रखते हैं। ऐसे उदाहरण जगन्नाथ में भी पाये जाते हैं।

एक पद्य में वे वेदान्तपरक और व्याकरणपरक अर्थों को संयुक्त करते हैं :

"जो शुद्ध चैतन्य है, गुण और वृद्धि से रहित है और विद्वानों में ' सत् ' (अर्थात् सत्ता) के रूप में जाना जाता है, उस परब्रह्म की हम उपासना करते हैं।"[70]

इसी पद्य की व्याख्या व्याकरण के संदर्भ में, भिन्न रीति से की जा सकती है :

"जब पाणिनि के सूत्र में 'सत्' की संज्ञा से प्रसिद्ध प्रत्यय ('शतृ' और 'शानच्') परे हों तो गुण ('अ','ए' और 'ओ') एवं वृद्धि ('आ', 'ऐ' और 'औ') नहीं होते।"

(र.ग., समासोक्ति के अन्तर्गत)

एक अन्य पद्य में कवि शिव की स्तुति करते हुए वेदान्त की अवधारणा का प्रयोग करता है :

"हे मन्मथनाशक ! जो मूर्ख अपने अन्तर में विद्यमान आपको तीर्थों में खोजते फिर रहे हैं वे अपने कण्ठ में चमकती हुई चिन्तामणि को भूलकर उसे धूल में खोज रहे हैं।"[71]

पहले उद्धृत सुधालहरी के श्लोक सं. 26 और 30 (देखें पृ. 48-49) और लक्ष्मीलहरी का सत्रहवाँ श्लोक (पृ. 46) भी इसी प्रकार से वेदान्ती अवधारणाओं पर आधारित हैं। लक्ष्मीलहरी का 18 वाँ पद्य (पृ. 47) बौद्धों द्वारा स्वीकृत एक दार्शनिक अवधारणा के संदर्भ में है।

और भी कई श्लोक ऐसे हैं जिनका पूरा आनन्द लेने के लिए व्याकरण के जटिल नियमों का ज्ञान आवश्यक है, जैसे रसगंगाधर में उद्धृत एक श्लोक :

" हे गंगे, जो मनुष्य समस्त भयों से मुक्त तुम्हारे जल को जैसे सुधापान करते हों,

ऐसे पीते हैं (सुधापायं पिबन्ति), वे पृथ्वी पर ऐसे निवास करते हैं जैसे देवता निवास करते हैं (निर्जरावासं वसन्ति)[72] ।"

यहाँ 'सुधापायं पिबन्ति' और ' निर्जरावासं वसन्ति ' जैसे वाक्यांश व्याकरण के कुछ जटिल नियमों पर आधारित हैं ।

तेरह

जगन्नाथ की रचनाओं का पूर्वापर क्रम

जगन्नाथ ने अपनी पाँचों लहरियाँ **रसगंगाधर** की रचना से पूर्व, और शायद मुग़ल दरबार में आने से भी पूर्व लिखी हैं । वल्लभाचार्य के वंश से उनका संबन्ध जोड़नेवाली परम्परा को देखते हुए हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी युवावस्था का कुछ हिस्सा मथुरा में भी अवश्य बिताया होगा । उन्होंने मुग़ल दरबार में प्रविष्ट होने से पूर्व **गंगालहरी** वाराणसी में, **अमृतलहरी, करुणालहरी** और **लक्ष्मीलहरी** मथुरा में एवं **सुधालहरी** इनमें से ही किसी एक स्थान पर रची होगी । यह भी संभव है कि उन्होंने अलग-अलग समय पर नये पद्य बनाकर इनमें जोड़े हों । **रसगंगाधर** में वे उस समय अपनी पाँचों लहरियों का एक साथ उल्लेख करते हैं जबकि वे कहते हैं कि उनकी पाँचों लहरियाँ प्रसाद गुण के उदाहरण के रूप में देखी जा सकती हैं ।

रसगंगाधर में उन्होंने **गंगालहरी** के तरेपन में से सत्रह श्लोक, **करुणालहरी** के पचपन में से पाँच, **लक्ष्मीलहरी** के इकतालीस में से केवल दो और **सुधालहरी** के तीस में से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जबकि **अमृतलहरी** से कोई उद्धरण नहीं दिया है ।

मुग़ल दरबार में प्रवेश पाने के बाद जगन्नाथ की पहली रचना **आसफविलास** है और **रसगंगाधर** एवं **चित्रमीमांसाखण्डन** (जिसमें **रसगंगाधर** के ही कुछ अंश हैं) बाद की रचनाएँ हैं । **आसफविलास** की रचना आसफ़ खाँ के जीवन-काल में, अर्थात सन् 1641 ई. से पूर्व हुई, जब कि रसगंगाधर उसकी मृत्यु के बाद पूरा हुआ होगा क्योंकि इसमें आसफ़ खाँ की मृत्यु पर विलाप का एक श्लोक मिलता है ।

भामिनीविलास और **जगदाभरण** का संकलन निश्चय ही **रसगंगाधर** के पूर्ण होने के बाद हुआ क्योंकि इन दो काव्यों में बड़ी संख्या में श्लोक **रसगंगाधर** से ही लिये गये हैं । यह दलील दी जा सकती है कि इसे दूसरी तरह से क्यों न माना जाए । किन्तु इन काव्यों का सावधान अध्ययन हमारे कथन की पुष्टि करता है ।

जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है, उनका उद्देश्य था कि **भामिनीविलास** साहित्यिक चोरों से उनके काव्य-रत्नों को सुरक्षित रखने के लिए मंजूषा बन सके । उन्होंने **रसगंगाधर** में यत्र-तत्र बिखरे हुए सर्वश्रेष्ट श्लोकों का चयन कर उन्हें **भामिनीविलास** में संकलित किया । वास्तव में तो स्वयं **रसगंगाधर** अधिक सुदृढ़ मंजूषा का काम कर सकता है किन्तु एक प्रयास की उपलब्धि से दो या तीन कृतियों की रचना करने की पण्डितराज की निपुणता ने उन्हें एक अन्य मंजूषा के निर्माण के लिए प्रेरित किया जिसमें कुछ और रत्न भी सुरक्षित रखे जा सकें ।

प्रास्ताविकविलास के 122 में से 59, **शृंगारविलास** के 180 में से 159, **करुणविलास** के 19 में से 4 और **शान्तविलास** के 44 में से 31 पद्य **रसगंगाधर** से लिये गये हैं । कवि

ने प्रत्येक विलास में कुछ और पद्य भी अवश्य जोड़े हैं । इन पद्यों को विषयवस्तु के आधार पर सिलसिलेवार रखने का कोई व्यवस्थित क्रम हमें यहाँ नहीं मिलता जैसा भर्तृहरि के शतकों और ऐसे अन्य ग्रन्थों में मिलता है । अनेक स्थलों पर श्लोकों का संयोजन उसी क्रम में किया गया है जिसमें वे **रसगंगाधर** में विभिन्न अलंकारों की व्याख्या के प्रसंग उद्धृत हैं । यह एक मज़बूत प्रमाण है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि **भामिनीविलास** के श्लोक **रसगंगाधर** से लिये गये हैं और अनेक श्लोक बाद में जोड़े गये हैं ।

राजाओं की प्रशंसा में काम आ सकनेवाले सभी पद्यों को चुनकर पण्डितराज ने दो नामों – **जगदाभरण** एवं **प्राणाभरण** – से तीन प्रशस्तियाँ बनाई हैं । इस काव्य में 52 पद्य हैं जिनमें से 48 रसगंगाधर से लिये गये हैं जहाँ प्रत्येक पद्य किसी न किसी अलंकार के उदाहरण के तौर पर दिया हुआ है । शेष चार श्लोकों में से एक **आसफविलास** में भी मिलता है । इस काव्य पर जगन्नाथ की तथाकथित टीका प्रत्येक श्लोक पर उनकी उन टिप्पणियों से भिन्न नहीं है जो उन्होंने **रसगंगाधर** में उस श्लोक में अलंकार स्पष्ट करते हुए दी थीं । इस प्रकार **जगदाभरण** निस्संदेह **रसगंगाधर** में उदाहृत श्लोकों (और वृत्ति के अंशों) का संग्रह है और उसका संकलन **रसगंगाधर** के बाद हुआ है ।

प्रसंगवश, इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना हमारे लिए सुगम हो जाता है कि **रसगंगाधर** में दो ही आनन थे क्योंकि **जगदाभरण** के सभी पद्य **रसगंगाधर** से लिये गये हैं और उनमें (चार को छोड़कर) सभी इन दो आननों में मिल जाते हैं ।

उपसंहार

पण्डितराज हिन्दू संस्कृति के अन्तिम महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक दौर के आख़िर में हुए । महान् दार्शनिकों, तार्किकों, भाषाविदों और स्मृतिकारों का युग चौदहवीं शती तक समाप्त हो चुका था । हिन्दू सृजनात्मक प्रतिभा की अन्तिम साँसें लेती हुई ज्योति की आख़िरी लौ संस्कृत अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में जगन्नाथ में दिखलाई देती है । फिर भी यह दावा ईमानदारी से किया जा सकता है कि संस्कृत में काव्यालोचना का अवसान चुपचाप न होकर गर्जना के साथ हुआ, क्योंकि पण्डितराज संस्कृत साहित्यशास्त्र के सबसे चमकते सितारे हैं और उसका अवसान भी । संस्कृत काव्यशास्त्र के शास्त्रीय और कलापक्ष में जो कुछ श्रेष्ट, मौलिक और सुन्दर है वह उनमें एकत्र और पूर्णतः संतुलित रूप में दिखलाई देता है । उनकी विवेकशील प्रतिभा ने पूर्ववर्ती आचार्यों से बिम्बविधान, शैली, ध्वनि और रस के अनिवार्य जीवन्त तत्त्वों का चयन कर, एक व्यापक शीर्षक, ' चमत्कार ', के अन्तर्गत उनका एकत्र समावेश किया है । और ऐसा करते समय उन्होंने नव्य-न्याय के प्रवर्गों का उपयोग किया है जिसने संस्कृत काव्यशास्त्र को ऐसी सटीकता और तार्किक क्षमता प्रदान की है जो इस विषय के निरूपण में, पूर्व या पश्चिम, कहीं भी दुर्लभ है । दुर्लभ सौन्दर्य बोध के साथ-साथ ऐसी बौद्धिक सामर्थ्य किसी चमत्कार से कम नहीं । हैमलेट ने अपने पिता के बारे में जो कहा था, उसमें मामूली फेर-बदल करते हुए, हम उनके बारे में, कम-से-कम संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तो विश्वासपूर्वक कह सकते हैं : उन जैसा हमें दुबारा देखने को नहीं मिलेगा ।

● ● ●

परिशिष्ट - 1
श्लोक-चयनिका

रसगंगाधर में मिलनेवाले लगभग 330 श्लोक पूर्वचर्चित पुस्तकों में से किसी में शामिल नहीं हैं । पण्डितराज को मुक्तक शैली के लगभग 700 श्लोकों की रचना का श्रेय दिया जाता है । इस दावे की प्रामाणिकता का निर्णय करना बहुत कठिन है । किन्तु 588 श्लोक **पण्डितराज-काव्यसंग्रह** में समाविष्ट किये गये हैं और उनमें से कुछ तो निःसंदेह पण्डितराज की छाप रखते हैं । अब इनमें से कुछ श्लोकों में निहित सुन्दर भावों का आनन्द लिया जाए ।

रूप-रंग भ्रामक हुआ करता है :

" चित्र में स्थित कमलपुष्प को देखकर भँवरा बड़ा प्रसन्न हुआ । 'वाह कैसा अद्भुत वर्ण, कैसा सुन्दर रूप', यों कहता हुआ वह पुष्प तक पहुँचा । न इसमें गन्ध थी, न मधु की बूँद, न कोई कोमलता; कुछ देर इसके आस-पास मँडरा कर बेचारा लज्जा से नीचा मुख किये वापिस लौट गया ।"[73]

विवेक-दृष्टि कुछ ही लोगों के पास होती है :

"फलों और पत्तों के विषय में समझदारी रखने वाले तो बहुत होंगे, किन्तु मधु के विशेष गुणों का विवेक करने में भ्रमर को छोड़कर कौन समर्थ है ?"[74]

समान चरित्र वाले लोग एक-दूसरे की तारीफ़ करते हैं :

" बन्दरों के विवाह में गधे संगीत प्रस्तुत करते हैं 'क्या रूप है ।' 'क्या मीठी आवाज़ है ।' इस प्रकार कहते हुए वे एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं ।"[75]

दुष्ट ही धनवानों की निकटता प्राप्त करते हैं :

"सब ओर से धवल (दूसरा अर्थ – सर्वथा शुद्ध) हंसों को कमल से बाहर रहना होता है । मधुप (भ्रमर, मद्यप) भीतर प्रविष्ट होते हैं । श्री (सौन्दर्य या धन) से संपन्न जनों की यही स्थिति है ।"[76]

जिन्हें छोटी-सी डोंगी से नदी पार करने का अवसर मिला है वे निम्नलिखित श्लोक का पूरा रस ले सकते हैं :

"नौका जीर्ण-शीर्ण है, नदी गहरी और घड़ियालों से भरी हुई है, वायु प्रचण्ड है, स्त्री, बच्चों और बूढ़ों को पार ले जाना है । हमें पूरी तरह कर्णधार के भुजबल पर निर्भर करना है ।"[77]

यहाँ कवि द्वारा संकेतित कर्णधार ईश्वर है जो संसार-सागर को पार करने के लिए जूझते हुए लोगों का अकेला सहारा है ।

लोग प्रायः बाह्य आभास से संचालित होते हैं, भीतरी वास्तविकता को जानने की

चिन्ता ही नहीं करते :

"मेरे भाई ! ताम्रकलश ! तुम्हारी बाहरी आकृति पूरी तरह सोने के मुलम्मे से ढँकी हुई है, सो तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं । चिरकाल तक मंदिर के शिखर पर दृढ़ता से डटे रहो । तुम्हारा ताम्ररूप तो लुप्त हो गया । अब तो तुम्हारे सुवर्णनिर्मित होने की प्रसिद्धि भली-भाँति स्थापित हो चुकी है । लोग बाहरी आभासों में ही दिलचस्पी रखते हैं, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप की परीक्षा करने में उनकी कोई रुचि नहीं होती ।"[78]

गुणों के प्रति उदासीन समाज में कवि की दुरवस्था का वर्णन प्रस्तुत है — यह स्थिति किसी भी काल में देखी जा सकती है :

"कहो भाई, कौन हो ?" कवि हूँ !' 'इतने दुर्बल क्यों हो मित्र ?' 'मुझे आहार नहीं मिला ।' 'धिक्कार है उस देश को जहाँ गुणवान जनों की ऐसी दुर्गति है ।' 'देश को नहीं, मुझे ही धिक्कार है । भूखा होने पर जब मैं भोजन पकाने की सोचता हूँ तो मुझे विन्ध्य पर्वत पर ईंधन, समुद्र में जल और धरती पर अन्न नहीं मिलता ।"[79]

बाहरी सज्जा से अन्तर परिवर्तित नहीं हो सकता :

"कौए की चोंच पर यदि सोना मढ़ दिया जाए, पैरों में माणिक बाँध दिये जाएँ और हर एक पंख पर गजमुक्ता लटका दी जाएँ, तो भी कौआ कौआ ही रहेगा, राजहंस नहीं हो सकता ।"[80]

दुष्ट व्यक्ति को भी विदेशियों की उपस्थिति में दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए ताकि वे पूरे राष्ट्र के बारे में गलतफहमी लेकर न जाएँ । कोई पक्षी कौए से प्रार्थना कर रहा है :

"भैया कौए, यह हंस जब तक वापस स्वर्ग की ओर नहीं उड़ जाता, कृपया तब तक के लिए अपनी चोंच बंद रखो । वरना अपने सजातीयों की सभा में यह हमारे बारे में यही कहेगा कि पृथ्वी के सभी पक्षियों का शोर कर्कश और अमांगलिक है ।"[81]

कौओं के 'का का' के शोर पर आधारित एक कल्पना दर्शनीय है :

"सूर्य को अन्धकार का नाश करते देखकर कौए अपने भी नाश की आशंका से घबरा गये (क्योंकि उनका रंग भी अँधेरे जैसा काला है) और चिल्लाने लगे : 'वयं काका वयं काका' (हम काक हैं, हम काक हैं) ।"[82]

लेखनी द्वारा किसी राजकीय अधिकारी को सलाह दी जा रही है :

"हे भाग्यशाली, ब्राह्मणों के प्रति दानशील बनो, अपने मित्रों और शत्रुओं तक पर उपकार करो, बन्धुजनों के प्रति सौजन्य का बर्ताव करो । अपना हित उचित रीति से करो । स्वामी के कार्य के प्रति निष्ठावान् बनो । अन्यथा अधिकार छिनते ही तुम्हारा मुख मेरे जैसा काला हो जाएगा । अधिकारी के कान पर रखी हुई लेखनी उसे इस प्रकार की सलाह देती है ।" (श्लोक 96)

जन्मस्थली जैसी सुखद कोई वस्तु नहीं है :

"सोने के पिंजरे में रहता हूँ, राजाओं के कमल-समान हाथों से दुलराया जाता हूँ,

अमृत-सा दूध पीने को और आम और अनार जैसे मीठे फल खाने को मिलते हैं । सभा में रामनाम का गायन करनेवाला मैं एक धीर तोता हूँ । किन्तु हाय ! फिर भी मेरा मन मेरे जन्म के वृक्ष की गोद में जाने के लिए पीछे भागता है ।"[83]

वस्त्रों के भारी बोझ से दबे हुए गधे को कवि बड़ी सुन्दर सलाह देता है :

"हे गर्दभ, वस्त्रों का बोझ ढोते हुए और स्वादहीन भोजन खाते हुए क्यों अपनी दुर्गति कराते हो ? जाओ, राजा के अस्तबल में प्रवेश पाकर उबले चने खाओ और सुख से रहो । वहाँ नियुक्त अधिकारी सारे पूँछ वाले प्राणियों को घोड़ा ही बतलाते हैं और राजा भी उन्हीं की सुनता है । दूसरे लोग कुछ कर नहीं सकते और इसलिए उदासीन हैं ।"[84]

एक ही वंश के बालकों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हो सकती है :

" नीलकमल, कुमुद, मत्स्य और कमल सब एक ही स्थान में जन्म लेते हैं, किन्तु प्रत्येक की अपनी अलग गन्ध होती है ।"[85]

महान व्यक्तियों की नक़ल एक सीमा तक ही की जा सकती है, उस सीमा के बाद तो नक़ल करनेवाले की कलई अपने आप ही खुल जाएगी :

"हे छायाशुक, जब यह राजशुक चला तो तुम भी चले, रुका तो रुक गये, उसने ऊपर देखा तो तुमने भी ऊपर देखा । मणिमय दीवार के पास उसने जो-जो किया वही तुमने भी किया । किन्तु जब वह कर्णसुखद स्वर में बोल रहा था, तब तुम चुप क्यों रह गये ?"[86]

कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति थोड़े समय के लिए भी नहीं टहर सकता । कवि कहता है :

"उस देश को अलविदा, जहाँ चन्दन, आम और चम्पक के वन काटे जाते हैं और शाखोटक की रक्षा की जाती है; हंस, मोर और कोयल मारे जाते हैं और कौओं को बड़ा आदर मिलता है; हाथी, घोड़े और गधे को बराबर समझा जाता है और कपूर और कपास को समान महत्त्व दिया जाता है ।"[87]

विवेकशील मनुष्य को कोई भी अनुचित बात सालती है :

"गधा दूसरों के अंगूर के बाग़ खाए तो हमारी कोई निजी हानि तो नहीं, फिर भी इसका अनौचित्य देखते हुए मन तो खिन्न होता ही है ।"[88]

स्वाभाविक वृत्ति बदलना असंभव है :

"कपूरचूर्ण से आलवाल बनाया जाए, कस्तूरी से विशेष सत्कार किया जाए और बर्फ के जल से सींचा जाए, फिर भी लहसुन अपना सहजात गुण (गन्ध) नहीं छोड़ सकता ।"[89]

कुछ लोग अपना धन विवशता में ही देते हैं, कितनी भी खुशामद उन्हें पिघला नहीं सकती :

"अरे मोर, सजावट के लिए मैंने तुझसे एक पंख देने की याचना की थी और तूने

वह भी नहीं दिया । अब बायाँ पैर छाती पर रखकर बलात् नोंच लेनेवाले भील को तू पंख दे रहा है ।"[90]

दूरी आकर्षण को बढ़ाती है :

"दूरी, काले रंग और विशाल आकार के कारण हाथी समझकर मदजल के लोलुप भँवरे जिसकी ओर भागे, हाय, वह अन्ततः भैंसा निकला ।"[91]

अपात्र पर किया गया भरोसा निराशा उत्पन्न करता है :

"सिंह को भगाने के लिए, किसी मूर्ख ने कुत्ता पालकर उसे प्रतिदिन गोमांस, दही-चावल और खीर खिला-खिला कर पुष्ट किया । किन्तु वह तो गुफा के भीतर से ही सिंह की गर्जना सुनकर, भयभीत हो भाग निकला । हाय रे दुर्भाग्य, गोवध का पाप उसे पालने की एकमात्र उपलब्धि रही ।"[92]

गुणवान् व्यक्ति का सबसे असहनीय अपमान यह है कि उसे अयोग्य व्यक्ति की बराबरी पर रखा जाए ।

"अग्नि में डालना, काटना या पत्थर पर घिसना सुवर्ण को पीड़ित नहीं करता । किन्तु गुंजा की बराबरी में तोला जाना उसके लिए अत्यन्त असहनीय है ।"[93]

कुछ अन्य श्लोक ऐसे भी हैं जो **पण्डितराजकाव्यसंग्रह** में सम्मिलित नहीं हैं किन्तु जिन्हें **पण्डितराजजीवितमु** में पण्डितराज द्वारा रचित माना गया है । उनमें से कुछ प्रस्तुत हैं ।

उपेक्षित होने पर भी सज्जन पुरुष सज्जनता का ही प्रसार करता है :

"तुम्हें साधारण वृक्ष समझ कर मैंने तुम्हारे लिये आलवाल भी नहीं बनाया । ओ चम्पक ! अब सुगन्ध से भरे पुष्पों द्वारा तुम मुझे अपनी उस उदासीनता पर लज्जित कर रहे हो ।"[94]

मनुष्य को सोच-समझ कर ही कहीं जाना चाहिए :

"सिंह के घर में जाने पर आपको हाथियों के मस्तक से निकली हुई मुक्ताएँ मिलेंगी, किन्तु सियार के घर जाने पर तो बछड़े की पूँछ, खुर और खाल का टुकड़ा ही मिलेगा ।"[95]

व्यक्ति की रुचियाँ प्रायः विरासत में मिली होती हैं :

"लाल चोंच, नेत्र और चरणों वाले तुम कौन हो ?' 'मैं हंस हूँ !' 'कहाँ से आये हो ?' 'मानसरोवर से !' 'वहाँ क्या मिलता है ?' 'वहाँ स्वर्णकमलों के वन हैं, अमृतोपम जल है, उसके तटों में नौ प्रकार के रत्न जड़े हुए हैं और पारिजात तरुओं से वे तट बड़े मनोरम लगते हैं ।' 'वहाँ सीपियाँ भी मिलती हैं ?' 'नहीं ' यह सुनकर सारे बगुले व्यंग्य से हँसने लगे ।"[96]

परिशिष्ट - 2
निर्दिष्ट श्लोकों का मूल पाठ

1. शीतार्ता इव संकुचन्ति दिवसा नैवाम्बरं शर्वरी
शीघ्रं मुञ्चति किञ्च सोऽपि हुतभुक्कोणं गतो भास्करः ।
त्वं चा नंग हुताशभाजि हृदये सीमन्तिनीनां गतो
नास्माकं वसनं न वा युवतयः कुत्र व्रजामो वयम् ।।

2. शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविताः
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः ।
संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
(संप्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते)
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ।।

3. आ मूलाद्रलसानोर्मलयपरिगतादा च कूलात्पयोधेः
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनरसिका निर्विशंकं वदन्तु ।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ।।

4. निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्-
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम् ।
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं संमुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् बहिर्मा कृथाः ।।

5. बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः ।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणतया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ।।

6. निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः ।
सा मामकीनकवितेव मनोभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ।।

7. समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
सुधासौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ।।

8. प्रभाते स्नान्तीनां नृपतिरमणीनां कुचतटी-

गतो यावन्मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः ।
मृगास्तावद् वैमानिकशतसहस्रैः परिवृता
विशन्ति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दनवनम् ।।

9. स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा ।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः ।।

10. विधत्तां निःशंकं निरवधि समाधिं विधिरहो
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ।।

11. न कोऽप्येतावन्तं खलु समयमारभ्य मिलितो
यदुद्धारादाराद् भवति जगतो विस्मयभरः ।
इतीमामीहां ते मनसि चिरकालं स्थितवती-
मयं संप्राप्तोऽहं सफलयितुम्ब प्रणय नः ।।

12. श्ववृत्तिव्यासंगो नियतमथ मिथ्याप्रलपनं
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम् ।
अपि श्रावंश्रावं मम तु पुनरेवंविधगुणा-
नृते त्वत् को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम् ।।

13. कियन्तः सन्त्येके नियतमिह लोकार्थघटकाः
परे पूतात्मानः कति च परलोकप्रणयिनः ।
सुखं शेते मातस्तव खलु कृपातः पुनरयं
जगन्नाथः शश्वत् त्वयि निहितलोकद्वयभरः ।।

14. भवत्या हि व्रात्याधमपतितपाखण्डपरिषत्
परित्राणस्नेहः श्लथयितुमशक्यः खलु यथा ।
ममाप्येवं प्रेमा दुरितनिवहेष्वम्ब जगति
स्वभावोऽयं सर्वैरपि खलु यतो दुष्परिहरः ।।

15. पयः पीत्वा मातस्तव सपदि यातः सहचरै-
र्विमूढैः संरन्तुं क्वचिदपि न विश्रान्तिमगमम् ।
इदानीमुसंगे मृदुपवनसंचारशिशिरे
चिरादुन्निद्रं मां सदयहृदये शायय चिरम् ।।

16. दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणालीमिलद्-

भृंगालीमुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धोऽञ्जलिः ।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्या मुरीकुर्वतो
वृत्तिं हन्त मुनेः प्रयान्तु यमुने वीतज्वरा वासराः ।।

17. अन्तर्मौक्तिकपुञ्जमञ्जिम बहिः स्निग्धेन्द्रनीलप्रभं
मातर्मे मुदमातनोतु करुणावत्या भवत्याः पयः ।
यद्रूपद्वयधारणादिव नृणामाचूडमामज्जतां
तत्कालं तनुतेतरां हरिहराकारामुदारां तनुम् ।।

18. महाजवाश्छिन्नविवेकरश्मयो मदोद्धता देव मदक्षवाजिनः ।
हरे समासाद्य तवांघ्रिमन्दुरामपास्तवेगा दधतां सुशीलताम् ।।

19. नितरां विनयेन पृच्छते सुविचार्योतरमत्र यच्छ मे ।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम् ।।

20. क्षुधितस्य न हि त्रपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णतः कणान् ।
अकलंक यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति ।।

21. नरके निजकर्मकल्पिता भजतो मे महतीरपि व्यथाः ।
इदमेकमसह्यमीक्षका यदनाथं निगदन्ति मां विभो ।।

22. अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात् ।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो ।।

23. अयि शैशवलालितः शिशुः प्रतिबुद्धो जनकेन ताड्यते ।
न कदापि च लालितस्त्वया किमु ताड्यो भगवन् कुकर्मभिः ।।

24. न वदामि न दुष्कृतं मया कृतमित्युक्तिमिमां तु मे शृणु ।
मम भीतिमनीनशद् विभो पतितोद्धारक नाम तावकम् ।।

25. प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिबद्धाञ्जलिरेकमेव याचे ।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम् ।।

26. उरस्यस्य भ्रश्यत्कबरभरनिर्यत्सुमनसः
पतन्ति स्वर्बालाः स्मरशरपराधीनमनसः ।
सुरास्तं गायन्ति स्फुरिततनु गंगाधरमुखा-
स्तवायं दृक्पातो यदुपरि कृपातो विलसति ।।

27. समीपे संगीतस्वरमधुरभंगी मृगदृशां
विदूरे दानान्धद्विरदकलभोद्दामनिनदः ।
बहिर्द्वारे तेषां भवति हयहेषाकलकलो

दृगेषा ते येषामुपरि कमले देवि सदया ।।

28. जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम् ।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
विसंदेहं चेतोऽजनि गरुडकेतोः प्रियतमे ।।

29. अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणितमहायुक्तिनिवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि ।
असत्ख्यातिव्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा
वलग्ने लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्तसरणिः ।।

30. उल्लासः फुल्लपंकेरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ।।

31. आपाथोजासनायुः क्षणलवघटिकाद्यात्मकं कालचक्रं
प्राहुः पूर्वे पुराणागमविषयविदो यस्य लीलाविलासम् ।
भावानां षड् विकारानथ खलु गतिभिर्यश्च नित्यं प्रसूते
स प्रातः पौरुहूते परिलसति हरिन्मण्डले चण्डभानुः ।।

32. शुद्धं ब्रह्मालवालं प्रकृतिशबलितं यस्य मूलं करास्तद्-
द्राघिष्टस्वर्णशाखा विकसदरुणिमा पल्लवानां विलासः ।
नीलं व्योमालिमाला सुरसफलभरो धर्मकामार्थमोक्षाः
स श्रीमान् वाञ्छितार्थं वितरतु सततं सूर्यकल्पद्रुमो वः ।।

33. संहृत्य द्राग् बहिःस्थं तिमिरकुलमथाभ्यन्तरं हर्तुकामा
रन्ध्रालीभिर्गृहाणामुदरमनुदिनं येऽविशङ्कं विशन्ति ।
भानोस्तेऽमी हृषीकाण्यखिलतनुभृतां हर्षयन्तो हितेहा
हृद्रोगं संहरन्तां हिममहिमहृतो हेमहृद्याः करा न : ।।

34. ऊर्ध्वं पापावलिभ्यः स्थित इति जगदे यस्य वेदैरुदाख्या
निन्युः कप्यासनाभं खलु सहचरतां नेत्रयोः पुण्डरीकम् ।
गेष्णावृक्साम यस्य द्रुतकनकनिभश्मश्रुकेशाखिलांगः
सोऽयं सर्वान्तरात्मा तव दिशतुतरां वासरेशः शिवानि ।।

35. दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं

नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ।।

36. पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ।।

37. अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः ।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः ।।

38. आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतंगा
भृंगा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति ।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु ।।

39. निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती
कृती मालाकारो बकुलमपि कुत्रापि निदधे ।
इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो
जगज्जालं कर्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ।।

40. लीलालुण्ठितशारदापुरमहासंपद्भराणां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत्पामराः ।
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां शशाः
सिंहानां च सुखेन मूर्धसु पदं धास्यन्ति शालावृकाः ।।

41. युक्तं सभायां खलु मर्कटानां शाखास्तरूणां मृदुलासनानि ।
सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी दन्तैर्नखाग्रैश्च विपाटितानि ।।

42. नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः ।।

43. व्योमनि बीजाकुरुते चित्रं निर्माति सुन्दरं पवने ।
रचयति रेखाः सलिले यस्तु खले चरति सत्कारम् ।।

44. हारं वक्षसि केनापि क्षिप्तमज्ञेन मर्कटः ।
लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्तमासनम् ।।

45. नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाश-
मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः ।
नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे

नाभेः प्रभा सरसिजोदरसोदरायाः ।।

46. आगतः पतिरितीरितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम् ।
कौमुदीव शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा ।।

47. अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना ।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ।।

48. श्रुतिशतमपि भूयः शीलितं भारतं वा
विरचयति तथा नो हन्त सन्तापशान्तिम् ।
अयि सपदि यथायं केलिविश्रान्तकान्ता-
वदनकमलवल्गत्कान्तिसान्द्रो नकारः ।।

49. भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण रहसि वधूः ।
तत्कालजालपतिता बालकुरंगीव वेपते नितराम् ।।

50. अधिरजनि प्रियसविधे कथमपि संवेशिता गुरुभिः ।
किं भवितेति सशंक पंकजनयना परामृशति ।।

51. वाचो मांगलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरोपरिपतद्वाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते ।।

52. केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येंगितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः ।
जानन्त्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि
श्रान्तासीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममासञ्जितः ।।

53. काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे
पीयूषसारसरसास्तव ये विलासाः ।
तानन्तरेण रमणी रमणीयशीले
चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः ।।

54. भूमौ स्थिता रमण नाथ मनोहरेति
संबोधनैर्यमधिरोपितवत्यसि द्याम् ।
स्वर्गं गता कथमिव क्षिपसि त्वमेण-
शावाक्षि तं धरणिधूलिषु मामिदानीम् ।।

55. स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।

कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ।।

56. मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः ।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ।।

57. रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ।।

58. विष्वद्रीच्या भुवनमभितो भासते यस्य भासा
सर्वेषामप्यहमिति विदां प्रत्ययालम्बनं यः ।
तं पृच्छन्ति स्वहृदयतलावेदिनो विष्णुमन्या-
नन्यायोऽयं शिव शिव नृणां केन वा वर्णनीयः ।।

59. बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते कर्मपाशा-
नन्तःशान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्तां भजन्ते ।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः
सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजां नराणाम् ।।

60. श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृंगावलिमधुरझंकारसुभगाः ।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलदृशां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते ।।

61. रे रे मनो मम मनोभवशासनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमामनन्तम् ।
किं मां निपातयसि संसृतिगर्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः ।।

62. गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते-
रधुन्वन्मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः ।।

63. मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमग्नमनसां सहसा खलानाम् ।

काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना-
मास्येषु धास्यसितमां कति नो विलासान् ॥

64. मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित् केषांचिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम् ।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः ॥

65. विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः ।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम ॥

66. विद्राणैव गुणज्ञता समुदितो भूयानसूयाभरः
कालोऽयं कलिराजगाम जगतीलावण्यकुक्षिम्भरिः ।
एवं भावनया मदीयकविते मौनं किमालम्बसे
जागर्तु क्षितिमण्डलोपरि जगत्सिंहो धराधीश्वरः ॥
(जागर्तु क्षितिमण्डले चिरमिह श्रीकामरूपेश्वरः)

67. माहात्म्यस्य परोऽवधिर्निजगृहं गम्भीरतायाः पिता
रत्नानामहमेक एव भुवने को वापरो मादृशः ।
इत्येवं परिचिन्त्य मा स्म सहसा गर्वान्धकारं गमो
दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीप्राणनारायणः* ॥

68. दृष्टिः संभृतमंगला बुधमयी देव त्वदीया सभा
काव्यस्याश्रयभूतमास्यमरुणाधारोऽधरः सुन्दरः ।
क्रोधस्तेऽशनिभूरुदारधिषणा स्वान्तं तु सोमास्पदं
राजन् नूनमनूनविक्रम भवान् सर्वग्रहालम्बनम् ॥

69. महेन्द्रतुल्यं कवयो भवन्तं वदन्तु किं तानिह वारयामः ।
भवान् सहस्रैः समुपास्यमानः कथं समानस्त्रिदशाधिपेन ॥

70. गुणवृद्धी परे यस्मिन् नैव स्तः प्रत्ययात्मके ।
बुधेषु सदिति ख्यातं तद् ब्रह्म समुपास्महे ॥

71. त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक शोधयन्तः ।

---

* जगदाभरण= श्रीकर्णजन्मार्णवः ।
रसगंगाधर= दिल्लीधरावल्लभः ।

विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्तं
चिन्तामणिं क्षितिरजःसु गवेषयन्ति ।।

72. निरपायं सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये ।
जह्नुजे निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः ।।

73. दृष्ट्वा हृष्टो भवदलिरसौ चित्रसंस्थे च पद्मे
वर्ण रूपं किमिति किमिति व्याहरन्नाजगाम ।
नास्मिन् गन्धो न च मधुकणो नास्ति तत्सौकुमार्यं
घूर्णन्घूर्णन्नवनतमुखो लज्जया निर्जगाम ।।

74. फलानां च दलानां च सन्तु ते ते विवेचकाः ।
मकरन्दविशेषज्ञो मिलिन्दमपहाय कः ।।

75. वानराणां विवाहेषु तत्र गर्दभगायकाः ।
परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः ।।

76. हंसाः सर्वांगधवलाः पद्मेभ्यो बहिरासते ।
अन्तर्विशन्ति मधुपाः श्रीमतामीदृशी गतिः ।।

77. जीर्णा तरिः सरिदियं च गभीरनीरा
नक्राकुला वहति वायुरतिप्रचण्डः ।
तार्याः स्त्रियश्च शिशवश्च तथैव वृद्धाः
तत्कर्णधारभुजयोर्बलमाश्रयामः ।।

78. भ्रातः काञ्चनलेपगोपितबहिस्ताम्राकृते सर्वतो
मा भैषीः कलश स्थिरो भव चिरं देवालयस्योपरि ।
ताम्रत्वं गतमेव काञ्चनमयी कीर्तिः स्थिरा तेऽधुना
नान्तस्तत्त्वविचारणप्रणयिनो लोका बहिर्बुद्धयः ।।

79. कस्त्वं भोः कविरस्मि तत् किमु सखे क्षीणोऽस्यनाहारतो
धिग् देशं गुणिनोऽपि दुर्गतिरियं देशं न मामेव धिक् ।
पाकार्थी क्षुधितो यदैव विदधे पाकाय बुद्धिं तदा
विन्ध्ये नेन्धनमम्बुधौ न सलिलं नान्नं धरित्रीतले ।।

80. काकस्य चञ्चुर्यदि हेमयुक्ता माणिक्ययुक्तौ चरणौ च तस्य ।
एकैकपक्षे गजराजमुक्तास्तथापि काको न च राजहंसः ।।

81. त्रोटीपुटं करट कुड्मलयाथ तात
यावत् प्रतिव्रजति नाकमयं मरालः ।
नो चेदमंगलकठोररवा विहंगाः

सर्वे भुवीति निजसंसदि शंसिता नः ।।

82. वयं काका वयं काकाः किं रुदन्तीति वायसाः ।
तिमिरारिस्तमो हन्ति शंकयातंकमानसाः ।।

83. वासः काञ्चनपञ्जरे नृपकराम्भोजैस्तनोर्मार्जनं
भक्ष्यं साधु रसालदाडिमफलं पेयं सुधाभं पयः ।
पाठः संसदि रामनाम सततं धीरस्य कीरस्य मे
हा हा हन्त तथाऽपि जन्मविटपिक्रोडे मनो धावति ।।

84. रे रे रासभ वस्त्रभारहरणात् कुग्रासममश्नासि किं
राजाश्वावसथं प्रयाहि चणकाभ्यूषान् सुखं भक्षय ।
सर्वान् पुच्छवतो हया इति वदन्त्यत्राधिकारे स्थिता
राजा तैरुपदिष्टमेव मनुते सत्यं तटस्थाः परे ।।

85. नीलोत्पलस्य मत्स्यस्य पद्मस्य कुमुदस्य च ।
एकयोनिप्रसूतानां तेषां गन्धः पृथक् पृथक् ।।

86. याते यातमथ स्थिते स्थितमुपर्यालोकिते लोकितं
यद् यद् राजशुकोऽयमाकलयते शुद्धान्तमध्यस्थितः ।
तत्सर्वं मणिभित्तिमेत्य भवता छायाशुकांगीकृतं
तस्मिन्कर्णसुखं वितन्वति गिरस्तूष्णीं त्वया स्थीयते ।।

87. छेद्यं चन्दनचूतचम्पकवनं रक्षा च शाखोटके
हिंसा हंसमयूरकोकिलगणे काके च बहवादरः ।
मातंगे तुरगे खरे च समता कर्पूरकार्पासयो-
रेषा यत्र विचारणा गुणगणे देशाय तस्मै नमः ।।

88. यद्यपि न भवति हानिः परकीयां चरति रासभे द्राक्षाम् ।
असमञ्जसमिति मत्वा तथापि खलु खिद्यते चेतः ।।

89. कर्पूरधूलीरचितालवालः कस्तूरिकाकल्पितदोहदश्रीः ।
हिमाम्बुपूरैरभिषिच्यमानः प्राञ्चं गुणं मुञ्चति किं पलाण्डुः ।।

90. रे रे शिखावल शिखाभरणाय बर्ह-
मेकं दिशेत्यनुनयान् मम किं ददासि ।
भिल्लाय वामचरणं हृदये निधाय
निर्लुञ्चते दिशसि निर्दयमध्यमानः ।।

91. नीलतया स्थूलतया दूरतया दानलोलुपैर्मधुपैः ।
धावितमिभराजधिया हन्तासीदन्ततो महिषः ।।

92. पञ्चास्यस्य पराभवाय भषको मांसेन गोर्भूयसा
दध्यन्नैरपि पायसैः प्रतिदिनं संवर्धितोऽङ्गेन यः ।
सोऽयं सिंहरवाद् गुहान्तरगताद् भीत्याकुलः संभ्रमात्
हन्ताशावलयं गतो हतविधे लाभः परं गोवधः ।।

93. हेम्नः खेदो न दाहेन छेदेन कषणेन वा ।
तदेव हि परं दुःखं यद् गुञ्जासमतोलनम् ।।

94. साधारणतरुबुद्ध्या न मया रचितस्तवालवालोऽपि ।
लज्जयसि मामिदानीं चम्पक सौरभ्यनिर्भरैः कुसुमैः ।।

95. गम्यते यदि मृगेन्द्रमन्दिरं लभ्यते द्विरदकुम्भमौक्तिकम् ।
जम्बुकालयगतेन लभ्यते वत्सपुच्छखुरचर्मखण्डनम् ।।

96. कस्त्वं लोहितलोचनास्यचरणो हंसः कुतो मानसात्
किं तत्रास्ति सुवर्णपंकजवनान्यम्भः सुधासंनिभम् ।
तत्तीरं नवरत्नखण्डखचितं कल्पद्रुमालंकृतं
शम्बूकाः किमु सन्ति नेति च बकैराकर्ण्य हीहीकृतम् ।।

M-266

संस्कृत के कवि, आलोचक एवं संगीतज्ञ और मुग़ल सम्राट शाहजहाँ के आश्रित कवि ***पण्डितराज जगन्नाथ*** (सत्रहवीं सदी) भारतीय काव्य एवं काव्य-शास्त्र के अंतिम सिरमौर कहे जाते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र के शास्त्रीय एवं कलापक्ष में जो कुछ भी श्रेष्ठतम, मौलिक तथा सुन्दर है वह उनमें एकत्र और पूर्णतः संतुलित रूप में दिखाई देता है। परन्तु सबसे विलक्षण बात तो यह है कि काव्य-प्रतिभा एवं समीक्षात्मक नैपुण्य पण्डितराज जगन्नाथ की रचनाओं में जिस प्रकार समृद्ध तथा फलीभूत हुए हैं, उससे बढ़कर संस्कृत में अन्यत्र दिखाई नहीं देते।

भारतीय काव्य-शास्त्र में ध्वनि-संप्रदाय के अनुयायी होते हुए भी पण्डितराज ने प्राचीन आलंकारिकों द्वारा निर्मित रूढ़-पद्धति से हटकर समीक्षा के नए सिद्धांतों का प्रतिपादन करने का साहस दिखाया। उनकी शैली विशिष्ट एवं आकर्षक है और शब्द एवं अर्थ का उत्कृष्ट एवं समन्वित मिश्रण भी। शृंगार तथा प्रेम के चित्रण में जगन्नाथ कभी भी सुरुचि की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करते। समाज का सूक्ष्म अन्वीक्षण, मानव मनोविज्ञान की गहरी समझ और मानवीय दुर्बलताओं पर व्यंग्य करने की सामर्थ्य उनकी अन्योक्तियों में पूर्णता में प्रकट होती है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के संसार में हम उनके जैसा दूसरा व्यक्तित्व संभवतः न देख सकें।

इस विनिबंध में लेखक ***पी. श्रीरामचंद्रुदु*** (जन्म 1927 ई.) ने पण्डितराज जगन्नाथ के महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक योगदान का संक्षेप में आकलन किया है। आप ओस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद के संस्कृत विभाग से संबद्ध रहे हैं और आपके कई ग्रंथ प्रकाशित हैं।

पन्द्रह रुपये